* ओ३म् *

दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश

(दयानन्दरहस्य का उत्तर)

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक 'दयानन्द-रहस्य' पुस्तक के उत्तर स्वरूप प्रकाशित की जा रही है। इस पुस्तक में महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों और उनकी शिक्षाओं की अशुद्ध व्याख्या करके, महर्षि के पवित्र जीवन पर लांछन लगा कर एवं उनकी विद्वत्ता तथा उनके कार्य का हास्य कर जन-सामान्य की दृष्टि में उन्हें और आर्यसमाज को गिराने का कुत्सित यत्न किया गया है। इसी कुत्सित भावना से प्रेरित होकर इस पुस्तक का व्यापक प्रचार भी किया जा रहा है।

इस पुस्तक सें जनता में भ्रम फैलने की सम्भावना को लक्ष्य में रखकर सभा द्वारा इसका उत्तर दिया जा रहा है जो "दयानन्द सिद्धान्त प्रकाश" के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है।

हम सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री के आभारी हैं; जिन्होंने इस पुस्तक का उत्तर लिखना स्वीकार किया ओर बड़ी तन्मयता से यह विद्वत्ता पूर्ण पुस्तक लिखकर तैयार कर दी। हम आर्यसमाज अमरोहा (मुरादाबाद) के अधिकारियों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते; जिन्होंने हमारा ध्यान इस पुस्तक की ओर आकृष्ट किया। उक्त समाज ने "दयानन्द रहस्य" पुस्तक के लेखक को गत वर्ष जब वह अमरोहा गये थे और उन्होंने सनातन धर्म सभा के तत्त्वावधान में आयोजित सार्वजनिक सभाओं में अपने व्याख्यानों में महान् दयानन्द और आर्यसमाज के विरुद्ध विष उगला था और अपनी उक्त पुस्तक के विषय में

दर्प पूर्ण शब्दों में बड़े-बड़े दावे किये थे, भ्रम निवारणार्थ शास्त्रार्थ का चैलेंच दिया था। आश्चर्य है लेखक महाशय ने उस समय शास्त्रार्थ को टाल दिया और वह अभी तक टालते आ रहे हैं। इस बात से यह भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता कि "दयानन्द रहस्य" पुस्तक के वास्तविक लेखक वह नहीं हैं, अपितु कोई अन्य व्यक्ति है। लेखक के रूप में उनके नाम का प्रयोग किया गया प्रतीत होता है।

प्रत्येक आर्य, आर्यसमाज और आर्य सभासद् का कर्तव्य है कि वह इस उत्तर रूप पुस्तक को स्वयं पढ़े और इसके व्यापक प्रचार में सहायक बने; जिससे कि आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द के विरुद्ध साहित्य का योजना-बद्ध खंडन करने में सार्वदेशिक सभा प्रोत्साहित एवं समर्थ हो सके; जिसका हम संकलन और उत्तर लिखाने की चेष्टा कर रहे हैं।

महर्षि दयानन्द भवन,
रामलीला मैदान,
नई दिल्ली—१

कालीचरण आर्य,
मन्त्री,
सार्वदेशिक आर्य
प्रतिनिधि सभा

ओ३म्

प्राक्कथन

गाजियाबाद निवासी श्री रामचन्द्र 'यक्ता' ने दयानन्दरहस्य नामक पुस्तक को २००७ विक्रमी में प्रकाशित कराया। इसमें लेखक ने आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों, सिद्धान्तों और जीवन पर आक्षेप किये हैं। बहुधा अशिष्ट भाषा का प्रयोग इस ग्रन्थ में दीखता है। इस पुस्तक में जो आक्षेप उठाये गये हैं वे बहुधा उन पुस्तकों और लेखों से संगृहीत हैं जो पिछले कई वर्षों में आर्य सिद्धान्तों आदि के विरुद्ध लिखे गये थे। इनके स्रोत स्थान "सनातन धर्मोद्धार", वेंकटेश्वर प्रेस से छपे शतपथ ब्राह्मण की भूमिका, अगस्त सन् १९४७ में सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित लेख तथा श्री जियालाल जैनी द्वारा लिखित दयानन्द छल कपट-दर्पण आदि पुस्तकें और लेख हैं।

प्रस्तुत पुस्तक 'दयानन्द-सिद्धान्तप्रकाश' श्री 'यक्ता' जी द्वारा लिखित 'दयानन्दरहस्य' का उत्तर है। सभी आक्षेपों के उत्तर इसमें अनुसंधानपूर्ण ढंग से शिष्ट भाषा में दिये गये हैं। इधर-उधर की उपरसट्ट बातों का उत्तर देने की कोई आवश्यकता नहीं थी अतः उन्हें छोड़ दिया गया है क्योंकि विषय के साथ उन का कोई सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि पुस्तक दयानन्द-रहस्य के उत्तर रूप में लिखी गई है परन्तु इसके विचारणीय और आक्षेपमय विषयों के उत्तर से उन सभी सम्बद्ध विषयों और प्रश्नों का समाधान किया गया समझना चाहिये जो समय-समय पर विपक्षियों द्वारा पूर्वोक्त पुस्तकों में उपस्थित किये गये

हैं। पुस्तक को अनुसंधानपूर्ण ढंग से इस प्रकार का बनाने का प्रयत्न किया गया है कि यह एक स्थायी साहित्य के रूप को धारण कर सके। प्रचुर मौलिक सामग्री इसमें प्रस्तुत की गई है। मैं यहाँ पर धन्यवाद देता हूँ उस महर्षि को कि जिस के वेद प्रचार का यह फल और प्रभाव है कि पौराणिक पंडितों के द्वारा जो कार्य होना अपेक्षित था उसका सम्पादन एक वैश्य ने किया। प्रस्तुत पुस्तक के लिखने का कार्य एक फरवरी सन् १९६२ को प्रारम्भ किया गया था और मुझे हर्ष है कि यह पुस्तक आज लिख कर पूर्ण हो रहा है। पुस्तक के लिखने की और शीघ्र ही पूर्ण करने की अनिवार्य प्रेरणायें—आर्य समाज की शिरोमणि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वर्तमान प्रधान आर्यजगत् के मूर्धन्य नेता, महर्षि के सिद्धान्तों के देश-विदेश में प्रचार और प्रसार में अपने जीवन को लगाने वाले, आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर अनेक कठिनाइयों के समय में भी आर्यसमाज के कार्यों में अग्रसर रहने वाले, संन्यासी, महात्मा, स्वामी ध्रुवानन्द जी महाराज—तथा सभा के वर्तमान मंत्री, सिद्धान्तप्रिय, स्वाध्यायशील और महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनन्य-भक्त, जीवनभर आर्यसमाज के कार्य में रत, वृद्धावस्था में नव-युवक के समान कार्य करने वाले, तपे तपाये, पुरानी पीढ़ी के कर्मठ आर्य नेता श्री बाबू कालीचरण जी आर्य—से पौनःपुन्येन प्राप्त हुईं। पूज्य स्वामी जी महाराज जब भी मिलते थे पुस्तक लिखने को चर्चा करते थे और कहा करते थे कि शीघ्र लिखना प्रारम्भ करो—उधर माननीय मंत्री (श्री बा० कालीचरण जी आर्य) पत्रों से बराबर अनुरोध करते रहते थे। मेरे कई साथी विद्वानों और आर्य व्यक्तियों ने भी इस पुस्तक के लिखने का अनुरोध किया। इन सब के अनुरोधों को मान देते हुए और

मुख्यत: भगवान् दयानन्द के अनुयायी होने के नाते मैंने इस पुस्तक का लिखना प्रारम्भ किया, अधिक से अधिक घण्टों तक परिश्रम कर इसे पूर्ण किया। सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा में पुस्तक लेखन के समय रहते हुये सभा के मंत्री मेरी सुविधाओं का व्यक्ति गत रूप से ध्यान रखते थे। प्रधान जी भी सब बातों का ध्यान रखते थे। श्री पं० रघुनाथ प्रसाद जी पाठक प्रत्येक दिन पूछ लिया करते थे कि कोई कष्ट तो नहीं। पुस्तकों आदि के लाने में मंत्री जी और पाठक जी बद्धपरिकर थे। उधर पूज्य स्वामी जी का कथन था कि मूल्य का विना ध्यान रखे आवश्यक पुस्तकें एकत्र की जावें। यद्यपि ये सभी सज्जन अपने से वर्षों से एक मार्ग के पथिक होने से आत्मीयता और प्रेमभाव रखते हैं परन्तु यहाँ पर उनके इस कार्य को मैं स्मरण किये विना रह नहीं सकता। मैं सार्वदेशिक सभा को इस कार्य के लिए हृदय से धन्यवाद देते हुये आर्यजनों से अनुरोध करूँगा कि इस पुस्तक को वे अधिक प्रचारित और प्रसारित करें। आचार्यवर्य भगवान् दयानन्द के द्वारा दिखलाया गया मार्ग प्रशस्त हो और वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार हो—

वैद्यनाथ शास्त्री

श्री दयानन्द भवन—नई देहली
७ मार्च १९६२
संवत् २०१८

विषय-सूचि

अद्वितीय वेदद्रष्टा भगवान् दयानन्द

ऐसे घोर अज्ञानान्धकार के समय में जब कि एक ओर अपने को सनातनधर्मी कहलाने वाले लोग यह कह रहे थे कि वेद तो कलियुग में लुप्त हो चुके हैं, हनुमान चालीसा, दुर्गासप्तशती और सत्यनारायण की कथा की पोथी और कपोल कल्पित, अनर्गल एवं सृष्टिनियम विरुद्ध गप्पों से भरे हुए पुराण वेद न होते हुए भी वेदों का स्थान प्राप्त कर रहे थे और कथित सनातनी लोगों के वेद बन रहे थे, सायण[1], उवट और महीधर जैसे भाष्यकारों के भाष्यों ने वेद की आर्ष परम्परा और शाश्वत मर्यादा को मटियामेट कर रखा था, शंकराचार्य जैसे विद्वान् ने भी वेदान्त के भाष्य में यह लिखा कि शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं—"[2]यदि वह वेद सुने तो उसके कानों में शीशा एवं लाख भर देनी चाहिये, उच्चारण करे तो जिह्वा काट लेनी चाहिये तथा यदि धारण करे तो शरीर का भेदन कर देना चाहिये"; और साथ ही ऐसे निकृष्ट कार्य को सप्रमाण सिद्ध करने के लिए गौतम धर्मसूत्र के प्रक्षिप्त वाक्य को सहारा

---

[1]सायण चतुर्वेदभाष्यकार माने जाते हैं। उवट और महीधर ने यजुर्वेद पर अपना भाष्य किया है।

[2]अथास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूर्णम्—इति···
भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद—इति।

वेदान्तसूत्र शांकर भाष्य १।३।३८

बना रखा गया था[१];—और दूसरी तरफ अनेक पाश्चात्य विद्वान्[२] ईसाई धर्म के प्रचारार्थ अपनी लेखनी से वेदों को किस्से कहानियों की पुस्तक बता कर वेद की रही सही प्रतिष्ठा को मिटाकर आर्य जाति को पथ-भ्रष्ट कर रहे थे; पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति में पले हुए उनके अनुयायी भारतीय उन्हीं को उपनेत्र बना कर वेदों को देख रहे थे, भारत भूमि के सौभाग्य और परमेश्वर की असीम अनुकम्पा से सौराष्ट्र के टंकारा स्थान में जन्म लेकर वर्षों के कठोर तप और योग के परिपालन से महान् आत्मबल और समाधिजन्य ऊहशक्ति से सम्पन्न हो, गुरुवर विरजानन्द से और अपने निरन्तर अध्यवसाय से वेद, वेदांगों को शिक्षा प्राप्त कर परम निष्णात, साक्षात्कृद्धर्मा, महान् एवं अद्वितीय वेदज्ञ भगवान् दयानन्द कार्य-क्षेत्र में अवतरित हुए।

महर्षि ने यह घोषणा की कि वेद[३] ईश्वरीय ज्ञान है। वह समस्त सत्य विद्याओं का पुस्तक[४] है। उसी की शिक्षा पर चलने

---

[१] गौतम धर्म सूत्र १२।४ ।

[२] देखें Indian Wisdom by Monier William, Ludwigs Rigved Translation etc.
Veoic Mythology by Macdonell
Vedic Index by Macdonell & Keith,
Griffith's Translation of the Veda

[३] जो ईश्वरोक्त सनातन सत्य विद्यामय चार वेद हैं; उनको विद्या पुस्तक कहते हैं। आर्योद्देश्य रत्नमाला ६०॥ विस्तार के लिए सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को देखें।

[४] वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। आर्यसमाज का तृतीय नियम। विस्तार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में देखें।

में मानव का कल्याण है। महर्षि ने वेद की परम्परा के सम्बन्ध में अपना कोई नवीन मत स्थापित नहीं किया, किन्तु ब्रह्मा[1] से लेकर जैमिनि पर्यन्त जो वेदार्थ की आर्ष परम्परा चली आयी थी; उसका पुनरुत्थापन और द्रढीकरण किया। कोई विद्याशून्य, बुद्धि का शत्रु, परममूर्ख ही यह कहने का दुःसाहस कर सकता है कि महर्षि को वेद नहीं आता था अथवा उन्होंने वेद के विषय में एक नया मत स्थापित किया। विपश्चित् एवं विवेकी पुरुष तो महर्षि के इन विचारों से इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि वे एक वेद-तत्त्वार्थ-वेत्ता, श्रुतपारदृश्वा महर्षि थे और वस्तुतः थे विभूषित उन शक्तियों, गुणों और विशेषताओं से कि जिन्होंने ब्रह्मा से लेकर जैमिनि के पश्चात् केवल दयानन्द में अपनी सार्थकता पायी।

वेद के समझने की कसौटी—

यहाँ पर साधरणतया एक प्रश्न उठता है कि वेद को किस प्रकार समझा जावे; और वेद के गूढ़ रहस्य तक पहुँचने के क्या साधन हैं और क्या वे ऋषि दयानन्द में विद्यमान थे ?

इसका समाधान यह है कि "ऊह ब्रह्म" की शक्ति से वेद को समझा जा सकता है और यही वेद के गूढ़ रहस्य तक पहुँचने का साधन है। महर्षि दयानन्द में यह शक्ति परिपक्वता और

---

[1] अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं; जिनको कि मैं भी मानता हूँ सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ। स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश; भूमिका ॥

पूर्णता को प्राप्त थी। ऋग्वेद का यह उपदेश[1] है कि "अन्तःकरण की सूक्ष्मीभूत मनोगतियों से जब विद्वान् युक्त होता है तब वह वेदविज्ञान के रहस्य को समझने में योग्य होता है। ऊह-ब्रह्म को प्राप्त किये हुए ही वेद में विचर सकते हैं।" यह वस्तुतः श्रुति-मति-बुद्धि रूपा एक विद्या है। इसी आधार पर ऊह, तर्क, आदि की स्थापना हुई है। प्रसिद्ध वेदज्ञ यास्क मुनि ने ऋग्वेद के इस मंत्र के रहस्य को खोलते हुए अपने निरुक्त में कहा है[2] कि "यह मंत्रार्थविचारणा ऊह से ऊहित की जानी चाहिए। श्रुति और तर्क से यह विचारणा करनी चाहिए। मन्त्रों का निर्वचन इनको छोड़ कर नहीं करना चाहिए—प्रकरण से ही इनका निर्वचन करना चाहिए। अनृषि और अतपस्वी को मन्त्र प्रत्यक्ष नहीं होते हैं। पारोवर्य को जानने वाले वेत्ताओं में भूयोविद्य ही प्रशस्य होता है।" वह पुनः लिखता है[3] कि ऋषियों के उठ जाने की अवस्था में मनुष्यों ने विद्वानों से जानना चाहा कि वेदार्थ के समझने में उनका ऋषि कौन होगा। मनुष्यों के लिए विद्वानों

---

[1] हृदा तष्टेसु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणा संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो विचरन्त्युत्वे ॥

ऋग्वेद १०।७१।८

[2] अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मंत्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात्। निरुक्त १३।१२

[3] मनुष्या वा ऋषिसूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद्यदेवं किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षंतद्भवति। निरुक्त १३।१२

ने तर्क ऋषि दिया और कहा कि इससे मन्त्रार्थ की चिन्ता ऊहित करना। अतः इस तर्क से जो कुछ अनूचान ऊहित करता है वह आर्ष होता है।"

यहाँ पर यास्क ने ऋग्वेद प्रतिपादित 'ऊह' शक्ति का विशदीकरण करते हुए यह भी प्रकट कर दिया कि अनृषि और अतपस्वी की वेद में प्रत्यक्ष गति नहीं है। जो ऊह से सम्पन्न है और ऋषि एवं तपस्वी है उसको मन्त्र स्पष्ट होते हैं। यास्क ने यहाँ पर तर्क को ऋषि कहा है। वह तर्क के द्वारा मन्त्रार्थ पर पहुँचने का प्रतिपादन करता है। यह ऊह शक्ति ही तर्क में भी कार्य कर रही है। ऊह की शक्ति भूयोविद्य को प्राप्त होती है और समाधिस्थ को भी प्राप्त होती है। समाधिस्थ और तपस्वी इस ऊहशक्ति से वेद के उस गूढ रहस्य को समझ पाते हैं जिसको साधारण विद्वान् नहीं समझ सकता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि तर्क चूँकि ऊह शक्ति का प्रतिनिधि है अतः उससे वेदार्थ पर साधारण विद्वान् भी पहुँच सकता है। विना इसका सहारा लिये वेदार्थ में साधारणों की गति नहीं। वेद का अर्थ, अधियज्ञ, अधिदैव और अध्यात्म प्रकरणों में होता है अतः तपस्वी और ऊह वाला इसमें कृतकार्य हो सकता है। निरुक्त के भाष्यकार स्कन्द स्वामी ने एक स्थल पर कहा भी है[1] कि "सन्मात्र में बद्ध बुद्धि वाले, शिथिल हुई कर्मग्रंथियों वाले, अभ्यास

---

[1] तत्राध्यात्मविदस्तावत् सन्मात्रनिबद्धबुद्धयः शिथिलीभूतकर्मग्रन्थयो भिन्नविषयभवसंक्रमस्थानवैराग्याभ्यासवशात् समासादितस्थिरसमाधयो निरस्तसमस्ताधयो निरस्तबाह्यविषयैषणा निरुद्धान्तःकरणवृत्तयो निष्कम्पप्रदीपकल्पाः क्षेत्रज्ञज्ञानमनना अन्यं न पश्यन्ति न शृण्वन्ति। स्कन्द निरुक्त टीका, डा० लक्ष्मण स्वरूप संपादित ७।५ पृष्ठ ३५।

वैराग्य से समाधि को प्राप्त हुए, समस्त आधियों से रहित, बाह्य विषयों की एषणाओं से हटे हुए, अन्तःकरण की वृत्तियाँ जिनकी निरुद्ध हो चुकी हैं—ऐसे निर्वात दीप के समान स्थिर क्षेत्रज्ञ ज्ञान के मनन करने वाले आध्यात्मिक अर्थ को देखते हैं।" यहाँ पर समाधिस्थ "ऊह" की ओर स्पष्ट संकेत है। यह एक प्रकार से यास्क के "अतपसः" में तपस् वाले तपस्वी की व्याख्या है। भूयोविद्य और तपस्वी ऋषि की "ऊह" में यह अन्तर है कि प्रथम वेदार्थ के समझने में यद्यपि रहस्य तक पहुँचाती है परन्तु यह पहुँच शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से संकीर्ण ज्ञान वाली होती है और देश काल की सीमा से परिच्छिन्न होती है। परन्तु ऋषि और तपस्वी की "ऊह" शक्ति इन सीमाओं से रहित होती है और शब्द क्या है? ज्ञान क्या है? और अर्थ क्या है?—इसको समझते हुये मुख्य अर्थ पर ही पहुँच जाती है। क्योंकि यह समाधिजन्य ऊह शक्ति है। योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने लिखा है कि शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प से युक्त सवितर्का समापत्ति होती है। इन से रहित हुई केवल अर्थमात्र को बतलाने वाली निर्वितर्का समापत्ति[1] है। इस पर भाष्य करते हुये महर्षि व्यास ने लिखा है[2] कि, "गौ" ऐसा कहने पर जो बुद्धि में भास होता है वह "गौ" शब्द, "गौ" अर्थ और "गौ" ज्ञान से युक्त रहता है। यह सवितर्क-समाधि की अवस्था है। परन्तु निर्विकल्प में ये विकल्प न भासित होकर

---

[1]शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थनिर्भासा निर्वितर्का ॥ योग दर्शन १।४२—४३॥

[2]गौरिति शब्दः, गौरित्यर्थः, गौरिति ज्ञानम् ॥ व्यासभाष्य १।४२

केवल "गौ" अर्थ ही भासित होता है और वह शुद्ध प्रज्ञा है जो श्रुत और अनुमान से रहित है। पुनः योग दर्शन में विवेकज ज्ञान का उल्लेख करते हुये लिखा गया है[1] कि यह "सर्वविषय (Omni objective) सर्वथाविषय (Semper-objective) तथा क्रम की अपेक्षा रहित तारक ज्ञान है।" वस्तुतः यही समाधिस्थ ऊह शक्ति है।

महर्षि दयानन्द भूयोविद्य भी थे और ऋषि भी थे। अतः उनमें यह ऊह शक्ति दोनों प्रकार से विकास की चरम सीमा को प्राप्त थी। इस महती शक्ति के आधार पर उन्होंने वेद मंत्रों का विचार कर उसके अर्थ को संसार के समक्ष रखने का प्रयत्न किया।

प्रथम यह निरुक्त के प्रमाण से दिखलाया गया है कि यास्क ने तर्क को ऋषि कहा है। परन्तु कहीं पर नवीन भाष्यकार सायण आदि के द्वारा उनके भाष्यो में ऋषि का तर्क अर्थ नहीं मिलेगा। महर्षि ने ऋग्वेद[2] १।१।२ मंत्र के भाष्य में "ऋषिभिः" पद का अर्थ विकल्प से "तर्कैः" भी किया है। ऋषि की बात को ऋषि ही समझ सकता है। निघण्टु १।१ में पृथिवी के नामों में "गोत्रा" पद पढ़ा गया है। ऋग्वेद के भाष्य में 'गोत्रा' का पृथिवी अर्थ सायण ने किसी भी स्थल पर नहीं किया है। देवराज यज्वा ने जब निघण्टु की टीका लिखी तो यह कह कर पिण्ड

---

[1] तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमञ्चेति विवेकजं ज्ञानम्॥ योगदर्शन ३।५३॥

[2] अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः—ऋग्वेद १।१।२—मंत्रार्थद्रष्टृभिरध्यापकैस्तर्कैः कारणस्थैः प्राणैर्वा। दयानन्दभाष्यम् १।१।२।

छुड़ाया कि "निगमोऽन्वेषणीयः"[1] अर्थात् निगम ढूँढना चाहिये। जब पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने इस पर विचार किया तो उन्होंने स्पष्ट ही सायणभाष्य का दोष प्रकट किया। वे कहते हैं[2] कि "बहुत से मंत्रों में "गोत्रा" पद सुना जाता है परन्तु वह कहीं पर पृथ्वीपरक नहीं है—ऐसा मालूम पड़ता है। तो क्या "गोत्रा" का पृथ्वी नाम में पाठ व्यर्थ ही है। यदि व्यर्थ नहीं तो फिर सायण आदि व्याख्याताओं के उन-उन मंत्रों में व्याख्यान का दूषण स्वीकार करना चाहिए। सर्वत्र यह पद मेघ आदि का ही वाचक नहीं है, कहीं-कहीं पर पृथिवी के अर्थ में भी इसका ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करने पर ये मंत्र ही इस पद के निगम ठहरेंगे। यहाँ पर भी सायण ने ऋषि की बात को नहीं समझा और उसका ही यह परिणाम है कि उसे पं० सत्यव्रत सामश्रमी के तिरस्कार का विषय बनना पड़ा।

परन्तु यहाँ पर यह ज्ञात रहे कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ऋग्वेद भाष्य में[3] (ऋ० ६।६५।५ पर) गोत्रा पद का पृथिवी अर्थ किया है। इस प्रकार ऊहशक्तिसम्पन्न महर्षि ने वेद के ज्ञान को संसार के सामने रखा और पुरानी आर्ष परम्परा को स्थापित

---

[1] देवराजयज्वाकृत निघण्टु टीका १।१।

[2] बहु मंत्रेषु श्रूयते गोत्रापदं, परं न तत् क्वापि पृथिवीपरमिति भावः। एवञ्च गोत्रेत्यस्य पृथिवीनामसु पाठः किं मुधैव। नोचेदवश्यं सायणादिव्याख्यातॄणमेव तत्र-तत्र मंत्रेषु व्याख्यागतं दूषणमूरीकार्यम्···इत्यादि। देवराज यज्वाकृत टीका की टिप्पणी पं० सामश्रमीकृत। एशियाटिक से प्रकाशित तथा देखें मेरी पुस्तक वैदिक इतिहास विमर्श पृष्ठ ।।२।।

[3] भूमिः (गोत्रेति पृथिवीनाम। निघण्टु १।१। ऋ ६।६५।६ दयानन्दभाष्यम् ।।

करते हुये वेदार्थ के मार्ग को दिखलाया। ज्यों ज्यों समय बीतता जायेगा महर्षि के इस महान् कार्य और उनकी वैदिक प्रक्रिया का सम्मान संसार करेगा। आज भी महान् विचारक लोग उस दिव्यात्मा देव दयानन्द के द्वारा बताये गये वेदार्थ के मार्ग की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और उन्हें एक महान् वेदज्ञ समझते हैं।

प्रसिद्ध योगी स्वर्गीय अरविन्दु लिखते हैं[१] कि—चिरकाल की गलत समझ और पुराने अज्ञान के अन्धकार और गड़बड़ी के मध्य भी उनकी (महर्षि दयानन्द की) ही तीक्षण दृष्टि वाली आँख थी कि उसने सत्य का भेदन किया और और सार को प्राप्त किया। उन्होंने उन द्वारों की कुञ्जी प्राप्त की जिन को समय ने बन्द कर दिया था और बन्दी-भूत स्रोत की मुहर को तोड़ा।

डाक्टर के. सी. वरदाचारी एम. ए. पी. एच. डी—अध्यापक और अध्यक्ष दर्शन विभाग, श्री वेंकटेश्वर कालेज, तिरुपति अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Idea of God" में लिखते हैं[२]–हम पाते हैं कि

---

[१] Amidst the chaos and obscurity of old ignorance and age long misunderstanding his was the eye of direct vision that pierced the truth and fastened on to that which was essential. He has found the keys of the doors that time had closed and rent asunder the seals of the imprisoned fountain.

Dayanand and the Veda from the article in the Vedic Magdzine Lahore for Nov. 1916 by Shri Aurovindo.

[२] We shall see that swami Dayanand had laid the world under deepest debt of obligation for giving to mankind the treasure that was lost or burried under the debris of confusing ideologies and interpretations,

"Idea of God" Page 46,
published in 1950

गोल माल आदर्शों और व्याख्याओं के भग्नावशेषों में खोये अथवा गड़े हुये कोष को मानव जाति को देकर स्वामी दयानन्द ने संसार को अपनी कृतज्ञता के महान् ऋण से आभारी बना दिया है।

दयानन्दरहस्य के लेखक का आक्षेप और उसका समाधान

इस प्रकार पूर्व लिखी गई पंक्तियों में यह भली प्रकार दर्शा दिया गया कि भगवान् दयानन्द एक अद्वितीय वेदज्ञ थे, परन्तु "दयानन्दरहस्य" पुस्तक के लेखक ने इस सम्बन्ध में कुछ आक्षेप किये हैं; उनका समाधान करना भी आवश्यक है। यद्यपि ये आक्षेप केवल अनर्गल प्रलापमात्र हैं फिर भी उन पर विचार करना यहाँ पर अभीष्ट है।

उक्त लेखक ने पृष्ठ ९२-९३ पर लिखा है कि "स्वामी जी ने वेदार्थ को समझने की जो रीति गुरु से सीखी या स्वयं समझो वह अतीव ही भ्रममूलक और बेतुकी है"। उसकी अपनी इस प्रतिज्ञा की पुष्टि में कही गई समस्त बातों को संक्षिप्त रूप में निम्न प्रकार संगृहीत किया जा सकता है—

१—स्वामी जी के अपने निज के वर्णित आत्मचरित में १४ वर्ष की अवस्था में यजुर्वेद संहिता और कुछ दूसरे वेद मन्त्रों का कण्ठस्थ कर लेना लिखा है। यह अर्थ को जाने विना शब्दमात्र का ज्ञान है।

२—समस्त आत्मचरित में किसी दूसरे स्थान पर किसी दूसरे गुरु से वेद पढ़ना नहीं बतलाया गया है।

३—श्री विरजानन्द की पाठशाला केवल व्याकरण की

पाठशाला थी और उसमें उनका (स्वामी जी का) व्याकरण मात्र पढ़ना सिद्ध होता है।

४—स्वामी जी मथुरा में १९१७ से १९१९ तक रहे। यह समय केवल व्याकरण के लिये ही पर्याप्त होता है।

इन आक्षेपों का क्रमशः समाधान किया जाता है—

१—आत्मचरित में इस प्रकार का लेख पाया जाता है। "[1]इस प्रकार चौदहवें वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक यजुर्वेद की संहिता संपूर्ण और कुछ-कुछ अन्य वेदों का भी पाठ पूरा हो गया था। शब्दरूपावली आदि छोटे-छोटे व्याकरण के ग्रन्थ भी पूरे हो गये थे"। चौदह वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक यजुर्वेद का कण्ठस्थ होना भी कोई साधारण बात नहीं है। यह इतना तो अवश्य ही स्पष्ट कर देता है कि महर्षि को बचपन से ही वेद का वातावरण प्राप्त था। उनके ऊपर वेद के संस्कार जम गये थे। बाद के अध्ययन से इनका विकसित होना और महर्षि का वेद के ज्ञान में नैपुण्य प्राप्त करना आदि इनसे ही संकेतित है। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" की कहावत यहाँ पर अपने को चरितार्थ कर रही है।

यह कोई नियम नहीं कि मंत्रों को कण्ठस्थ करने वाले को वेद-वेदाङ्गों के पढ़ने पर अर्थ का ज्ञान न हो। कण्ठस्थ की गयी वस्तु पर बाद में विचार और अध्ययन करने पर अत्यधिक सिद्धता और दक्षता प्राप्त हो जाती है। अष्टाध्यायी के सूत्र पहले कण्ठस्थ करने पड़ते हैं और पश्चात् अर्थ का ज्ञान कराया जाता है। विना कण्ठस्थीकरण के अर्थ का ज्ञान भी वैयाकरण

---

[1]ऋषि का स्वरचित जीवन चरित्र पृष्ठ ११, श्री पं० भगवद्दत्त जी द्वारा संपादित—कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित सन् १९५१।

किसी को नहीं बना सकता है। महर्षि ने केवल यजुर्वेद को ही नहीं अपितु दूसरे वेदों के भी कुछ मंत्र कण्ठस्थ कर लिये थे। साथ ही साधारण व्याकरण के ग्रन्थ भी पूरे कर लिए थे। यह सब इस बात को स्पष्टतया प्रकट करता है कि उनको बचपन में ही नियमित परिपाटी से शिक्षा मिली थी। बाद में गुरुवर विरजानन्द जैसे सर्वविद्या-निष्णात, महामनीषी, वैदिक वाङ्मय-पारदृश्वा, कुशल गुरु की छत्रछाया और शिक्षा-दीक्षा में रहते हुए यह अपने पूर्ण विकास को पहुँची। यह वस्तुतः अमनोवैज्ञानिक और मानव स्वभाव के विरुद्ध है कि बचपन में जिस विषय का संस्कार मिला है और जो बातें मानस पटल में घर कर चुकी हैं विकास का सुयोग्य अवसर आने पर वे उससे प्रभावित न हों। महर्षि दयानन्द जैसे महापुरुष के रूप में विकसित होने वाले बालक में वेद के नियमित पड़े हुए संस्कार गुरुवर्य वेदवेदाङ्गविच्छिरोमणि विरजानन्द दण्डी के शिक्षण में आने पर उसे गुरु से इस विषय की चर्चा, वार्ता, अधीति, बोध, आचरण और प्रचारण की दृढ़ भूमिका बनाने को बाधित न करें—संभव नहीं! जिस बालक दयानन्द ने बचपन में ही यजुर्वेद और अन्य वेदों के भी कुछ मंत्र कण्ठस्थ कर लिये वह योग्यतम गुरु के शिक्षण में रहते हुए इसे सार्थक करने का और इस विषय में वैचिती प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करेगा, इस पर कोई किस प्रकार विश्वास कर सकता है? अतः दयानन्द ने गुरु से केवल व्याकरण ही पढ़ा—वेद-वेदाङ्ग नहीं पढ़े—ऐसी उल्टी कल्पना कोई मनोविज्ञान और शिक्षा शास्त्र को न समझने वाला अनपढ़ भोंदू ही कर सकता है।

यहाँ पर यह भी समझने की आवश्यकता है कि वीतराग स्वामी विरजानन्द जी महाराज की वास्तविक इच्छा यह थी

कि कोई एक ऐसा शिष्य मिले जिसे वे योग्य बना दें और उनके कार्य को वह पूर्ण करे और प्राचीन आर्ष पद्धति के अनुसार वेद-वेदाङ्गों के पठन-पाठन की परम्परा को स्थापित करते हुए वेद के ज्ञान को प्रचारित और प्रसारित करे। ऐसा शिष्य उनको ऋषि दयानन्द मिले थे। विद्या प्राप्ति के अनन्तर गुरु से विदाई लेते हुए उनसे गुरु ने जो दक्षिणा चाही और ऋषि ने उसे स्वीकार किया; वह इस बात को पुष्ट करती है और प्रकट करती है कि महात्मा दण्डी इनसे क्या अपेक्षा रखते थे। जो गुरु अपने शिष्य से इतने महान् कार्य की आशा रखता हो वह स्वभावतः यह भी चाहेगा कि अपने में विद्यमान दक्षता से उसे उस कार्य के पूर्ण योग्य बना देवे। अतः गुरुवर विरजानन्द ने महर्षि को वेदवेदाङ्गों के समझने का मार्ग बताया और निरुक्त, निघण्टु आदि वेदाङ्गों और वेद को पढ़ाया—यह परिणाम निकालना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में श्री देवेन्द्रनाथ जी का कथन ठीक ही है[1] कि "यदि कोई हमें शिष्य-गुरु के प्रश्नोत्तरों को बता सकता तो उनसे संसार का कितना लाभ होता, कितनी दार्शनिक गुत्थियाँ सुलझ जातीं, कितने वेद और आर्ष ग्रन्थों के गूढ़ तत्त्वों का रहस्य खुल जाता।" तथा—"वेदों के प्रकृत अर्थों को समझने के लिए व वैदिक-साहित्य का पूर्ण अधिकारी बनने के लिए जिन-जिन शास्त्रों का अध्ययन और आलोचन विशेष रूप से आवश्यक है उन्हें पढ़ाये बिना विरजानन्द कभी शान्त हुए भी न होंगे।" श्री देवेन्द्र नाथ जी की ये बातें महर्षि में अन्ध भक्ति के परिणाम स्वरूप नहीं बल्कि गुरुवर विरजानन्द की विद्या और ऋषि दयानन्द से अपेक्षित उनकी आशायें तथा ऋषि दयानन्द की

---

[1] "श्री देवेन्द्रनाथ जी कृत जीवन चरित्र" देखें।

कुशाग्रबुद्धिता, होनहारिता आदि के विचार के तार्किक परिणाम का प्रकटीकरण हैं। कोई भी विचारवान् व्यक्ति इसी परिणाम पर पहुँचेगा।

२—यदि जीवन-चरित में किसी अन्य गुरु से वेद पढ़ना नहीं बतलाया गया तो इससे ऋषि के वेद न पढ़ने की बात किस प्रकार सिद्ध होती है। प्रथम आक्षेप का समाधान करते समय यह दिखला दिया गया है कि गुरु विरजानन्द ने ही वेद-वेदाङ्गों की योग्यता ऋषि को दे दी थी—फिर अन्य किसी गुरु से पढ़ने का प्रश्न ही क्या उठता है ? ऋषि का आत्मकथित जीवन-चरित्र अति संक्षिप्त है। उसमें विवरणात्मक बातें नहीं हैं। दूसरे चरित्र पश्चात् की खोज के आधार पर लोगों ने लिखे। इनके देखने से जैसा कि प्रथम आक्षेप के उत्तर में लिखा गया है, यह स्पष्ट है कि महर्षि ने गुरु विरजानन्द से ही वेद-वेदाङ्गों की शिक्षा प्राप्त कर ली थी। प्रत्येक बात का वर्णन किसी के भी जीवन चरित्र में सम्भव नहीं। जिन व्यक्तियों के जीवन चरित्र लिखे गये हैं उनमें भी सारी बातें उन व्यक्तियों के जीवन की नहीं पायी जाती हैं। सब बातें लिखी भी नहीं जा सकतीं।

३—गुरुवर विरजानन्द की पाठशाला केवल व्याकरण की पाठशाला थी और ऋषि दयानन्द के लिए भी केवल व्याकरण की ही पाठशाला थी—इसका कोई प्रमाण नहीं। यह पाठशाला गुरु-शिष्य की आदर्श परम्परा की प्रतीक थी। इसमें गुरुकुलीय शिक्षा का आदर्श निहित था। अतः गुरु जी जितने विषयों के ज्ञाता थे उन सब विषयों की यह पाठशाला थी। गुरु शिष्य की परम्परा से प्राप्त की जाने वाली शिक्षा का प्रकार भी ऐसा ही होता है।

व्याकरण भी तो किसी उद्देश्य से पढ़ा जाता है। वह उद्देश्य व्याकरण महाभाष्यकार पतंजलि ने वेदों की रक्षा माना है। वेदों की रक्षा के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये, ऐसा भाष्यकार का कथन[1] है। व्याकरण पढ़ाते समय जब यह पाठ महाभाष्य को प्रारम्भ करते हुए ही गुरुवर विरजानन्द जैसे उद्भट विद्वान् ने ऋषि दयानन्द जैसे तीव्र-प्रतिभ शिष्य को पढ़ाया होगा—उस समय मुख्य उद्देश्य वेद-रक्षा का उपेक्षित हो जाना किस प्रकार सम्भव है। जब गुरु और शिष्य दोनों ही कुशल हैं और व्याकरण का उद्देश्य वेद-रक्षा स्पष्ट है तथा गुरु शिष्य के अध्ययनाध्यापन का भी वही उद्देश्य है तो फिर उन्होंने वेद के विषय को रिक्त किस प्रकार छोड़ा होगा। अतः गुरु विरजानन्द की पाठशाला को केवल व्याकरण की पाठशाला कहना उचित नहीं। वह वेद-वेदाङ्ग सभी विषयों की पाठशाला थी। यह संभव है कि ऋषि दयानन्द के अतिरिक्त गुरु विरजानन्द के जितने शिष्य थे वे व्याकरण विषय के ही विद्यार्थी रहे हों। परन्तु इस आधार पर पाठशाला के व्याकरण मात्र की पाठशाला होने का परिणाम नहीं निकाला जा सकता है।

४—महर्षि दयानन्द जी मथुरा में विद्याध्ययन के लिए १९१७ से १९१९ तक रहे और यह समय केवल व्याकरण के लिए ही पर्याप्त है—इस आक्षेप में भी कोई तत्त्व नहीं है। विद्या की प्राप्ति का समय अधिकारी भेद से मापा जाया करता है। ग्रहण शक्ति और अध्यवसाय की इसमें विशेष गणना है। वेद भी

---

[1]रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् ॥ (महाभाष्य–पश्पशाह्निक व्याकरणप्रयोजन प्रसंग में।)

कहता[1] है कि आँख, कान आदि सबके एक से हैं परन्तु मन की गतियों में मनुष्यों में भेद पाया जाता है। ऋषि दयानन्द एक अत्यन्त असामान्य कोटि के विद्यार्थी थे। अतः उनकी योग्यता को इस तीन वर्ष के मान दण्ड से नहीं मापा जा सकता है। आश्चर्य तो इस बात का है कि आक्षेप-कर्त्ता अपनी फूँस की झोंपड़ी का ध्यान किये विना मशाल वाले को आमंत्रण दे रहा है। आक्षेप-कर्त्ता लगभग तीन वर्ष के समय को महर्षि दयानन्द जी के लिए केवल व्याकरण का समय मान कर उनके वेदाध्ययन पर आक्षेप करता है परन्तु उसे यह बात भूल जाती है कि उसके परम श्रद्धेय श्री शंकराचार्य दो-तीन मास में ही गुरु के समान विद्या वाले हो गये[2]। वे वेद में ब्रह्मा के समान वेदाङ्गों के विषय में गार्ग्य के समान तथा इनके तात्पर्य के निर्णय करने में बृहस्पति के समान, वेदविहित कर्म के वर्णन करने में जैमिनि के समान तथा वेदवचन के द्वारा प्रकट किये गये ज्ञान के विषय में व्यास

---

[1]अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
ऋग्वेद १०।७१।७

इसकी व्याख्या निरुक्त १।९ पर यास्क ने की है। विस्तार स्कन्द टीका में देखें।

[2]अधिजगे निगमाश्चतुरोऽपि सः क्रमत एव गुरोः सषडङ्गकान्
अजनि विस्मितयत्र महामतौ द्विजसुतेऽल्पतनौ जनतामनः ।।१६
अत्रकिं स यदशिक्षत सर्वाश्चित्रमागमगणाननुवृत्तः।
द्वित्रमासपठनादभवद्यस्तत्र तत्र गुरुणा समवृत्तः ।।१८

वेदे ब्रह्मसमस्तदङ्गनिचये गार्ग्योपमस्तत्कथातात्पर्यार्थविवेचने गुरुसमस्तत्कर्मवर्णने। आसीज्जैमिनिरेव तद्वचनजप्रोद्बोधकन्दे समो, व्यासेनैव स मूर्त्तिमानिव नवो वाणीविलासैर्वृतः ।।१९।। शंकरदिग्विजय सर्ग ४ श्लोक १६,१८,१९—श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर हरद्वार संस्करण सं० २०००।

के समान थे। यह बालक होते हुए भी वाणी के विलास से युक्त हुए व्यास के अवतार प्रतीत होते थे। यदि श्री शंकराचार्य दो-तीन मास के समय में वेद-वेदाङ्ग के ज्ञाता हो सकते हैं तो अत्यन्त कुशाग्रधी दयानन्द तीन वर्ष में व्याकरण ही पढ़ पायें—यह कहना क्या उपहासास्पद होना नहीं है। दो-तीन मास की अपेक्षा तीन वर्ष का समय कितना लम्बा है। साथ ही ऋषि दयानन्द की प्रतिभा श्री शंकराचार्य से न्यून नहीं—बल्कि कई गुना अधिक थी। श्री शंकर की दर्शन और उपनिषदों में गति देखी जाती है, वेद-वेदाङ्गों में नहीं।

स्यात् आक्षेपकर्त्ता रामचन्द्र जी यत्ता यह कहें कि श्री शंकर स्वामी शिव के अवतार थे—अतः इन्हें इतने थोड़े समय में सब विद्यायें प्राप्त हो गयीं। परन्तु इस तर्क में कोई सार नहीं। परमात्मा जिसका ही एक नाम शंकर है कभी मनुष्य आदि के रूप में अवतार नहीं लेता है। उसे अवतार लेने की कोई आवश्यकता भी नहीं और अवतार के लिए जो हेतु अवतारवादी देते हैं वह भी शंकराचार्य के अवतार में नहीं घटते हैं। यदि वे अवतार थे और परमेश्वर के अवतार थे तो उन्हें पढ़ने की ही आवश्यकता क्या थी ? साथ ही इतना ज्ञान होने के पश्चात् वेदान्त पढ़ने के लिए श्री गौड़पादाचार्य के शिष्य श्री गोविन्दाचार्य के पास जाने की क्यों आवश्यकता पड़ी[1]।

यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान भी लिया जावे कि महर्षि के जीवन में उनके वेद पढ़ने का कोई वर्णन नहीं मिलता तब भी आक्षेपकर्त्ता के पूर्वोक्त आक्षेप खड़े नहीं होते। किसी व्यक्ति की किसी विषय की योग्यता की माप उसकी कृतियों से होती

[1] देखें—शंकरदिग्विजय सर्ग पंचम श्लोक ९२-१००

है—जीवन चरित्र में उसके उस विषय के अध्ययन के लिखित होने अथवा न होने से नहीं। महर्षि दयानन्द की वेदज्ञता को बतलाने वाली उनकी कृतियाँ और उनका वेदभाष्य हैं। इनके ऊपर निर्धारित किया जा सकता है कि वे वेद के कितने उद्भट विद्वान् थे। जीवन चरित्र में इस विषय में कुछ नहीं लिखा है—इसको आधार बनाना व्यर्थ है। आक्षेपकर्त्ता ने "दयानन्द रहस्य" पुस्तक में अपनी संक्षिप्त आत्म-कथा दी है। उसमें कहीं पर यह नहीं लिखा है कि उसने व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रों को किसी भी गुरु से पढ़ा हो—फिर भी उसने वेद, दर्शन और व्याकरण विषयों से सम्बन्धी बातों पर मत और विचार व्यक्त किये हैं। उसके ही तर्क के आधार पर उसके इस साहस को दुःसाहस और अनधिकृत अनर्गल प्रयास क्यों न समझा जावे? जिस तर्क को लेकर दूसरे पर आक्षेप करे वही उसके गले पर आ पड़े—ऐसा कार्य तो किसी दांत न होने के कारण वेदान्ती (बेदाँती) कहे जाने वाले गुरु का चेला ही कर सकता है।

महर्षि ने गुरु से वेद वेदाङ्ग पढ़े इस विषय के भी पर्याप्त प्रमाण हैं। श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय कृत बङ्गला दयानन्द चरित्र के हिन्दी अनुवाद में (जिसके अनुवादक पं० घासीरामजी एम. ए. एल. एल. बी. मेरठ हैं और प्रकाशक गोविन्दराम हासानन्द कार्नवालिस स्ट्रीट कलकत्ता वाले हैं, संवत् १९८९ में छपा है) पृष्ठ १३६ पर लिखा है "दयानन्द उनके पास पाणिनि, और पाणिनि की अनुपम व्याख्यास्वरूप महाभाष्य के पाठ में प्रवृत्त हो गये। उसके पश्चात् उपनिषद्, मनुस्मृति, ब्रह्मसूत्र और पतंजलि के योग सूत्र प्रभृति दर्शन शास्त्रों को अध्ययन करने लगे। क्रमशः वेद और वेदाङ्गों के भी पाठ में प्रवृत्त हुए।"

श्री विश्व प्रकाश बी. ए. एल. बी. कृत Life and Teachings of Swami Dayanand, Kala Press 1935 Edition. में पृष्ठ ७५ पर लिखा है[1] कि "उन्हों (गुरुवर विरजानन्द) ने वस्तुतः अपने हृदय को उनके (दयानन्द के) समक्ष खोल दिया और उन कोषों से परिचित करा दिया जा कि अपने अन्दर सुरक्षित रूप में एकत्र थे।" फिर पृष्ठ ७९ पर लिखा है[2] "कि दयानन्द ने धार्मिक शास्त्रों का स्वामी विरजानन्द से पढ़ लिया था परन्तु अभी तक अपने निजी धार्मिक सिद्धान्तों को निर्मित नहीं किया था।"

श्रीमद्दयानन्द-निर्वाण अर्ध शताब्दी संस्करण के "आर्य धर्मेन्द्र जीवन" (जिसके लेखक श्री रावसाहब राम विलास शारदा हैं) में पृष्ठ २८ पर लिखा है "इनका (स्वामी विरजानन्द) का विश्वास था कि हमारे शिष्यों में से यदि कोई हमारा अभीष्ट सिद्ध करेगा तो दयानन्द ही करेगा, इसलिए उन्होंने अपना सारा विद्याभण्डार इनको सौंप दिया था और जो कुछ ऋषिकृत ग्रन्थों से बातें निश्चयात्मक की हुई थीं वह सब ही इनको समझा दी थीं।"

महर्षि की यौगिक प्रक्रियानुसार वेद पदों की बह्वर्थकता पर आक्षेप और उनका परिहार

"दयानन्द रहस्य" के लेखक ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ९३-९४ पर महर्षि द्वारा प्रतिपादित यौगिकवाद और इसके आधार पर होने

---

[1] In fact, he opened his heart before him, and introduced him to the treasures that were stored safely within—Page 75.

[2] Dayanand had studied religious scriptures from Swami Virjanand but he had as yet not formulated his own religious principles—Page 79,

वाली वेद के पदों की अनेकार्थता पर आक्षेप किया है। साथ ही यह भी लिखा है कि निरुक्त में नाम शब्दों के यौगिक अर्थ न लेकर योगरूढ़ अर्थ लेने का सिद्धान्त स्थिर किया गया है।

इस पुस्तक के लेखक ने जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है उस पर मैं विचार कर और उसी भाषा में उत्तर देकर विद्वत्ता और शिष्टता की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहता। परन्तु आक्षेपों का समाधान करना उचित समझता हूँ। इससे ही यह परिज्ञात हो जावेगा कि उक्त लेखक ने कितनी सारहीन बातें कही हैं।

उक्त पुस्तक के लेखक ने अपने पक्ष की पुष्टि में पुरुषसूक्त[1] के "तस्मादश्वा अजायन्त" मंत्र को देकर यह दिखलाया है कि "गावोहि, जज्ञिरे तस्मात्—भाग के "गाव:" शब्द के अर्थ में गाय नामक पशु (जो कि उक्त शब्द का योगरूढ़ अर्थ है) के अतिरिक्त 'पृथ्वी, किरण और इन्द्रिय अर्थ रूपी गोले यौगिक अर्थ के आधार पर गतिरूप विशेषण के सर्वत्र लागू होने से निकाल कर दिखला दिये हैं"। परन्तु आक्षेपकर्त्ता लेखक यहाँ पर यह भूल जाता है अथवा इससे अपनी अनभिज्ञता को प्रकट कर रहा है कि वेद की प्राचीन परम्परा में वेदार्थ की यही प्रक्रिया रही है। वेद के पद को अनेकार्थक ही माना जाता है। यह यौगिक प्रक्रिया और अनेकार्थता का सिद्धान्त वेद का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं (अधियज्ञ, अधिदैव और अध्यात्म) में घटित करता है। वेद के पदों को रूढ़ मानने और यौगिकवाद को न मानने पर सर्वविद्याओं के

---

[1]पुरुष सूक्त ऋग्वेद १० मंडल का ९०वां सूक्त और अथर्व १९ काण्ड का छठा सूक्त, यजुः ३१वाँ अध्याय, है। इन सभी में यह मंत्र पाया जाता है।

भण्डार सर्वज्ञ की कृति वेद के ज्ञान को संकुचित कर देना पड़ेगा। यहाँ पर आक्षेपकर्त्ता की कितनी बड़ी अनभिज्ञता है कि "गावो हि जज्ञिरे" पाठ दे रहा है जबकि मंत्र में शुद्ध पाठ "गावो ह जज्ञिरे" है। यह मंत्र ऋग्वेद १०।९०।१०, अथर्व १९।६।१२ और यजुर्वेद ३१।८ में आया है; और सभी जगह "गावो ह जज्ञिरे" पाठ ही है। साथ ही उक्त लेखक को ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका का उद्धरण देना चाहिए था। क्योंकि उसके द्वारा कथित अर्थ ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में ही महर्षि ने किया है। ऋग्वेद में जिस स्थल पर यह मंत्र है उसका भाष्य महर्षि ने किया ही नहीं है। अथर्ववेद पर महर्षि ने भाष्य नहीं किया है। यजुर्वेद में (३१।८) जो भाष्य किया है वहाँ पर "गाव:" का अर्थ "धेनव:" किया है और लिखा है कि "गाव इत्युपलक्षणमेकदताम्" अर्थात् "गाव:" पद एक तरफ दांत वालों का उपलक्षण है। इस अर्थ पर पूर्वोक्त आक्षेप घटता ही नहीं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस मंत्र का अर्थ करते हुये महर्षि ने लिखा है "गावो धेनव: किरणाश्चेन्द्रियाणि च जज्ञिरे—अर्थात् गाव:=धेनुयें, किरणें और इन्द्रियाँ पैदा हुईं। यहाँ पर महर्षि सृष्टिविद्या प्रकरण में ऐसा वर्णन कर रहे हैं। अत: इस प्रकार का अर्थ किया। ये मन्त्र भी सृष्टिविद्या प्रकरण के हैं। "गाव:" पद के प्रक्रियान्तर से अनेक अर्थ होते हैं—इस बात को जताने के लिए महर्षि ने ऐसा अर्थ किया। यह अर्थ सर्वथा ठीक है। "गौ:" पद निघण्टु १।१ में पृथिवी नाम में पठित है। ३।१६ में यह पद स्तोतृ नाम में है। ४।१ में यह पद नाम में है। इससे अनेकार्थ इसके बन जावेंगे। "गाव:" पद निघण्टु १।५ में किरणों के नाम में है। १।४ में "गौ:" पद साधारण नाम में है। निघण्टु १।११ में वाणी के नाम में है। यास्क ने

निरुक्त २।६[1] पर "गौः" का अर्थ सुषुम्णा नामक सूर्यरश्मि लिया है। वह पुनः कहता है कि सारी रश्मियें "गौः" कही[2] जाती हैं। उसने "गौः" के सुषुम्णा रश्मि अर्थ होने में ऋग्वेद १।८४।१५ मंत्र का निगम दिया है। यास्क इसी प्रसंग में "गौः" पद का आदित्य अर्थ भी करता[3] है। यास्क निरुक्त २।५ पर पुनः लिखते हैं "गौः" पृथिवी का नाम[4] है क्योंकि यह "दूरंगता" होती है अथवा इस में प्राणी चलते हैं। वह आगे चलकर कहता है कि "ज्या"[5] भी गौः कही जाती है। यास्क ने निरुक्त परिशिष्ट १३।१५ पर "गावः"[6] का अर्थ इन्द्रियाँ किया है। "गौः" का गाय पशु भी अर्थ[7] है—इसका भी उल्लेख यास्क ने किया है। यास्क ने अपने कथन में "दूरंगता भवति" कह कर आक्षेपकर्त्ता के गति रूप विशेषण पर भी प्रकाश डाल दिया। अर्थात् ये सब अर्थ "गति" को लेकर संघटित हैं—यह भाव प्रकट कर दिया। महर्षि दयानन्द की वेदार्थ प्रक्रिया पर व्यर्थ का आक्षेप करने वाले, एवं अपने को सनातनधर्म की सेवा करने वाला कहने वाले रामचन्द्र यक्ता जिन ब्राह्मणों को वेद मानते हैं; वे ब्राह्मण भी महर्षि के पक्ष की ही पुष्टि करते

---

[1] सोऽपि (सुषुम्णोऽपि) गौरुच्यते। अत्राह गोरमन्वत (ऋग्वेद १।८४।१५)। निरुक्त २।६

[2] सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते। निरुक्त २।६

[3] आदित्योऽपि गौरुच्यते। निरुक्त २।६—निगम ऋग्वेद ४।५६।३

[4] गौरिति पृथिव्या नामधेयम्। यद्दूरंगता भवति। निरुक्त २।५

[5] ज्यापि गौरुच्यते। निरुक्त २।६ निगम ऋग्वेद १०।२७।२२

[6] एत एव सोमं गावो धेनव इन्द्रियाणि। नि० १३।१५ निगम ऋग्वेद ९।९७।३५

[7] अथापि पशुनामेह भवत्येस्मादेव। निरुक्त २।५

हैं। इन ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार "गौः" पद के[1]—ये लोक, अन्तरिक्ष, अन्न, यज्ञ, प्राण, विराड्, स्रुक् आदि अनेक अर्थ हैं। शतपथ ब्राह्मण ६।१।२।३४ में तो "गति" को[2] लेकर ही लोकों को "गौ" कहा गया है। ब्राह्मण कहता है कि "ये सारे लोक "गौः" हैं क्योंकि जो कुछ भी गतिमान् होता है वह इन लोकों में ही गतिमान् होता है।

इस प्रकार ऊपर दिये गये प्रमाणों से यह सिद्ध है कि महर्षि का "गावः" पद का पृथिवी, किरण और इन्द्रिय अर्थ करना सर्वथा ठीक है और वेद के एक ही पद के प्रक्रियानुसार अनेक अर्थ होते हैं—यह सब यौगिक प्रक्रिया का माहात्म्य है। "गति" को लेकर ही ये भिन्न-भिन्न अर्थ आचार्यों ने किये हैं।

वेद मंत्रों का अर्थ सदा इसी प्रकार से प्राचीन आचार्य करते रहे हैं। सायण, उवट और महीधर आदि को यह प्रक्रिया नहीं मालूम थी अथवा जान कर उन्होंने इसकी अवहेलना की—अतः वेदार्थ तक वे नहीं पहुँच पाये।

आचार्य वररुचि लिखते हैं कि "मन्त्र[3] पदों की व्यापकता के कारण उनकी सब प्रकार से (विविध अर्थों में) योजना करनी

---

[1]इमे लोका गौः। शतपथ ६।५।२।१७; अन्तरिक्षं गौः। ऐतरेय ४।१५; अन्नमु गौः—शतपथ ७।५।२।१९; यज्ञो वै गौः। तैत्तिरीय ३।९। ८।७; प्राणो हि गौः। शतपथ ४।३।४।२५; विराड् वै गौः (यजु० १३। ४३) श० ७।५।२।१९; गौर्वै स्रुचः। तैत्तिरीय ३।३।५।४।।

[2]इमे वै लोका गौर्यद्धि किं च गच्छतीमांस्तल्लोकान् गच्छति। शतपथ ६।१।२।३४

[3]विभुत्वात् मंत्रपदानां सर्वथा योजना कर्त्तव्या। वररुचि का निरुक्त समुच्चय कल्प २।६६ वें मंत्र के व्याख्यान पर—लाहौर संस्करण।

चाहिए।" निरुक्त वृत्तिकार आचार्य दुर्ग लिखते हैं कि "वक्ता[1] के अभिप्रायवश मंत्र अन्यार्थ के भी द्योतक हैं। इनके अन्दर इयत्ता का अवधारण नहीं है। ये महान् अर्थों वाले हैं तथा दुष्परिज्ञान हैं। जिस प्रकार घोड़े के सवार की विशेषता से घोड़ा साधु और साधुतर ले चलता है उसी प्रकार ये मन्त्र वक्ता की विशेषता से साधु और साधुतर अर्थों को देते हैं। ऐसा होने पर इस शास्त्र में लक्षणोद्देश्यमात्र से एक एक का निर्वचन किया जाता है, कहीं पर अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञ के प्रदर्शनार्थ। अतः इन मन्त्रों में अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञ के आश्रय भूत जितने अर्थ बन सकें उन सभी की योजना करनी चाहिए इसमें किसी प्रकार का दोष एवं अपराध नहीं है।"

निरुक्त टीकाकार स्कन्द स्वामी लिखते हैं "सभी[2] प्रक्रियाओं में सारे मन्त्रों की योजना करनी चाहिये क्योंकि स्वयं भाष्यकार (यास्क) ने सभी मन्त्रों के त्रिविध विषय दिखलाने के लिए 'अर्थं वाचः पुष्पफलम्' वाक्य को कहा है। अतः यज्ञादियों की यहाँ पर पुष्पफल रूप में प्रतिज्ञा है।

---

[1]एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यार्थत्वमपि भजन्ते मन्त्राः । न ह्येतेष्वियत्तावधारणमस्ति । महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च । यथाश्वारोहवैशेष्यादश्वः साधु साधुतरश्च वहत्येवमेते वक्तृवैशेष्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति । तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते । क्वचिदध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम् । तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन्नधिदैवाध्यात्माधियज्ञे सुश्रयाः सर्व एव एते योज्याः । नात्रापराधोऽस्ति । दुर्ग निरुक्त वृत्ति २।८

[2]सर्वदर्शनेषु च सर्वे मंत्रा योजनीयाः । कुतः स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमंत्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय "अर्थं वाचः पुष्पफलमाह (निरुक्त १।२०) इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्" इत्युक्तम् ॥ निरुक्त स्कन्द टीका ७।५, लाहौर संस्करण ।

महाभाष्य दीपिका के कर्त्ता भर्तृहरि ने भी इसी पक्ष की पुष्टि करते हुए प्रसंगतः लिखा है कि[1] "इदं विष्णुर्विचक्रमे०" (ऋ० १।२२।१७; अथर्व ७।२६।४;यजु० ५।१५)। इस मन्त्र में एक ही विष्णु पद अनेक शक्तियों वाला होकर अधिदैवत प्रक्रिया में आत्मा=सूर्य अध्यात्म में नारायण और अधियज्ञ में चषाल अर्थात् यूप के ऊपर का ढक्कन अर्थ देता है।

"गोमेध" पद का अर्थ महर्षि गार्ग्यायणकृत प्रणववाद में इस प्रकार दिया गया है।[2] "गोमेध का अर्थ शब्दमेध है। "गौ" नाम वाणी का है और उसके मेधा से संयोजन का नाम गोमेध है। शब्दशास्त्र ज्ञानमात्र का सबको प्रदान करना गोमेध यज्ञ है।

इस प्रकार इन पूर्वोक्त प्रमाणों से यह भली प्रकार सिद्ध है कि वेद मन्त्रों के पदों का यौगिक प्रक्रिया से भिन्न-भिन्न अर्थ होता है। दुर्गाचार्य ने तो स्पष्ट ही कह दिया कि वेदार्थ की इयत्ता नहीं अवधारण की जा सकती और तीनों प्रक्रियाओं (अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञ) में जितने अर्थ बन सकें सब की योजना करनी चाहिए और ऐसा करने में कोई अपराध नहीं। आचार्य वररुचि, स्कन्द, भर्तृहरि और गार्ग्यायण के मतों से भी इसकी

---

[1]यथा "इदं विष्णुर्विचक्रमे" इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन् अधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं चात्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्तते। महाभाष्य दीपिका पृष्ठ २६८ श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के पास विद्यमान हस्तलेख।

[2]गोमेधस्तावच्छब्दमेध इत्यवगम्यते। गां वाणीं मेधया संयोजनमिति तदर्थात्। शब्दशास्त्रज्ञानमात्रस्य सर्वेभ्यः प्रदानमेव गोमेधो यज्ञः।। प्रणववाद प्रकरण ३, तरङ्ग ६ ब्रह्मवादिन् प्रेस मद्रास सन् १९१५ का संस्करण।

पुष्टि कर दी गई परन्तु "दयानन्द रहस्य" के लेखक ने इसके विपरीत महर्षि पर ऐसा करने का दोषारोप लगाया। यह कितनी विचित्र और उपहासजनक बात है। "विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति" की युक्ति यहाँ पर सर्वथा चरितार्थ है। सभी ऋषि मुनि और आचार्य वेद ज्ञान को इयत्तारहित और सर्वज्ञ का ज्ञान ठहराते हैं। परन्तु रामचन्द्र यत्ता जी वैदिक पदों को रूढ़ और योगरूढ़ बना कर सार्वतंत्रिकी यौगिक प्रक्रिया का तिरस्कार कर वेद के ज्ञान को संकुचित करना अपना ध्येय समझते हैं।

वेद कहता है कि यह ज्ञान अनन्त है। जितना बड़ा ब्रह्म है उतनी ही यह वाणी[1] है। स्वयं रामचन्द्र जी के श्रद्धेयचरण आचार्य शंकर भी यही मानते हैं[2] कि "वेद नित्य हैं, सर्वज्ञकल्प हैं और हैं समस्त विद्याओं के भण्डार तथा प्रदीप की भांति सारे अर्थों के प्रकाशक। सर्वज्ञ गुणों से युक्त इसका सर्वज्ञ के अतिरिक्त कोई कर्त्ता नहीं हो सकता है। जो जो विस्तार के लिए शास्त्र जिस-जिस पुरुष से बनाये जाते हैं जैसा कि पाणिनि आदि

---

[1]यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥ ऋग्वेद १०।११४।८

[2]महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थं विद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति—यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके। वेदान्त शांकरभाष्य १।१।३ तथा—अपि च चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठंस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत्। तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः। पश्चात्तदनुगतानर्थान्ससर्जेति गम्यते। वेदा० शां० १।३।२८

के व्याकरण आदि हैं वे ज्ञेय वस्तु के एक देश को बताने के लिए हैं—वेद अथवा परमेश्वर तो उससे अधिक विज्ञान वाला है, यह लोक में प्रसिद्ध है। इत्यादि ॥ व्यास[१] के शिष्य जैमिनि[२] और स्वयं व्यास भी वेद के शब्दों के साथ सृष्टि पदार्थों का सम्बन्ध मानते हैं और सृष्टि को वेदशब्दपूर्विका स्वीकार कर वेद की नित्यता मानते हैं। परन्तु यह कितने शोक और खेद की बात है कि "दयानन्द रहस्य" के लेखक ने वेद के अर्थ को यौगिकवाद का विरोध करके संकुचित कर अपनी ही विद्या का उपहास नहीं कराया अपितु अपने को सनातन धर्म का सेवक कह कर अपने इस कार्य से सनातन धर्म को भी उपहास का विषय बना दिया है। क्या यह सीधा ही लोगों को आँख में धूल झोंकना नहीं है ?

यह तो यौगिकवाद और अनेकार्थता के सिद्धान्त की बात हुई। अब यह भी दिखलाया जाता है कि प्राचीन आचार्यों ने इसका अपने ग्रन्थों में पालन भी किया है। उनके मंत्रार्थ जहाँ महर्षि प्रदर्शित सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं वहाँ रूढ़िवाद आदि का खंडन भी कर देते हैं। यौगिकता को विना माने उनके यह अर्थ सम्भव नहीं हैं।

ऋग्वेद ४।५८।३ के "चत्वारिश्शृङ्गा" आदि मन्त्र में "वृषभः" पद और "महोदेवः" पद पड़े हैं। रूढ़ अर्थ लेने अथवा यक्ता जी का योगरूढ़ अर्थ लेने पर इस "वृषभः" का बैल अर्थ होगा। परन्तु महाभाष्यकार ने[३] इस मंत्र की व्याख्या करते हुए इसे

---

[१]शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्० ॥ अत एव च नित्यत्वम्। वेदान्त सूत्र १।३।२८-२९

[२]औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः० ॥ मीमांसा १।१।५

[३]चत्वारि शृङ्गाणि। चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। महाभाष्य १।१।१ शब्दानुशासनप्रयोजन प्रकरण।

शब्दपरक अर्थ में लगाया है। "चत्वारिश्शृङ्गा" का नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात—ये चार प्रकार के पदजात अर्थ किये हैं। "त्रयः पादाः" के भूत, भविष्यत्, वर्तमान रूप तीन काल और "द्वे शीर्षे" के नित्य और कार्य अर्थ किये हैं। "सप्त हस्तासः" का अर्थ सात विभक्तियाँ किया है।

गोपथ ब्राह्मण[1] में इस मन्त्र को यज्ञ प्रक्रिया में लगाया गया है और वहाँ पर मंत्रस्थ "वृषभः" पद का अर्थ यज्ञ किया गया है। इसमें "चत्वारिश्शृङ्गा" से चार वेद, "त्रयः पादाः" से तीन सवन, "द्वे शीर्षे" से ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य, "सप्त हस्तासः" से सप्त वैदिक छन्द, आदि अर्थ लिये गये हैं।

यास्क ने निरुक्त[2] १३।७ पर इस मंत्र की व्याख्या यज्ञपरक की है और "वृषभः" का अर्थ यज्ञ माना है। सारी व्याख्या लगभग गोपथ के अनुसार है। परन्तु "द्वे शीर्षे" का अर्थ प्रायणीय और उदयनीय किया है।

काव्यमीमांसा में राज[3] शेखर ने काव्य पुरुष का वर्णन करते हुए इसका अर्थ साहित्यपरक किया है।

"सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः"० यह ऋग्वेद ८।६९।१२ मंत्र है। इसका देवता वरुण है। मंत्र में वरुण पद भी पड़ा है। रूढ़ और योगरूढ़ से इसका अर्थ "वरुण देव" बनेगा। परन्तु महाभाष्यकार पतंजलि[4] ने इस मंत्र की व्याकरण शास्त्र

---

[1]चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः० ।। गोपथ पूर्वार्ध २।१६ (जीवानंद संस्करण १८९१)

[2]चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः० ।। निरुक्त १३।७

[3]काव्य मीमांसा राजशेखरकृत काव्य पुरुष (सारस्वत) प्रकरण।

[4]सुदेवो असि वरुण सत्यदेवोऽसि। यस्य ते सप्तसिन्धवः सप्त विभक्तयः। महाभाष्य १।१।१ शब्दानुशासन प्रयोजन निरूपण।

परक व्याख्या की है और इस मंत्र में आये "सप्त सिन्धवः" का अर्थ सप्त विभक्तियाँ किया है। यहाँ पर रूढ़ार्थ लेने पर "सिन्धवः" का अर्थ विभक्तियाँ किस प्रकार बन सकता है।

यास्क ने[1] इस मंत्र का अर्थ वरुण देवता-परक किया है और सप्त सिन्धवः का अर्थ "सात स्रोत" किये हैं। यहाँ पर मंत्र जल अर्थ में लगाया गया है।

इस उपयुक्त मन्त्र में आये "काकुदं" पद की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार कहता[2] है कि "काकुदं तालु। काकुर्जिह्वा, साऽस्मिन्नुद्यते"। यास्क कहते हैं "काकुदं[3] तालित्याचक्षते जिह्वा कोकुवा साऽस्मिन् धीयते। जिह्वा कोकुवा कोकूयमाना वर्णान्नुदतीति वा कोकूयतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः। जिह्वा जोहुवा। तालु तरतेस्तीर्णतममङ्गं लततेर्वा स्याद् लम्बकर्मणो विपरीताद् यथा तलं लतेत्यविपर्ययः॥ यौगिकवाद को बिना माने हुए इस प्रकार की व्याख्या कैसे हो सकेगी। यास्क ने "अयम्" और "असौ" की भी निरुक्ति की है। ये सार्वनामिक विभक्तियाँ हैं परन्तु यास्क इनकी भी यौगिक प्रक्रिया के बल से निरुक्ति करता है[4]।

इसी प्रकार ऋग्वेद १०।५२।३ मंत्र में "किः" पद आया है। यास्क ने निरुक्त ६।३५ पर "किः" का अर्थ कर्त्ता किया है।

---

[1]सुदेवस्त्वं कल्याणदेवः······यस्य ते सप्त सिन्धवः सिन्धुः स्रवणाद्। यस्य ते सप्त स्रोतांसि॥ निरुक्त ५।२७

[2]महाभाष्य १।१।१

[3]निरुक्त ५।२७

[4]"अयम्" एततरोऽमुष्माद्, असावस्ततरो अस्मादमुथा यथासाविति॥ निरुक्त ५।२६

ऋग्वेद १०।११०।८ में भारती पद आया है। यास्क ने निरुक्त ८।१३ पर इस पद की व्याख्या करते हुये लिखा है "भरत आदित्यस्तस्य भा:" अर्थात् भरत आदित्य का नाम है और उसकी "भा:" भारती है। यहाँ पर सनातनियों के रूढ़ भरत की कैसो व्याख्या बन गई। क्या रूढ़िवाद इसका समाधान कर सकता है।

और तो और "यक्ता" के लिए "सिंह" तो घोर रूढ़ि शब्द होगा। ऋग्वेद १।९५।५ मंत्र में आये "सिंह" पद की व्याख्या करते हुये यास्क ने निरुक्त ८।१५ पर "सिंह:" का अर्थ "सहनं" किया है। यहाँ पर करण प्रत्ययान्त अर्थ कर दिया। कहाँ रूढ़िवाद का कर्तृवाच्य सिंह और कहाँ यास्क का भाव अथवा करण में अर्थ। कितना अन्तर है।

ये उपर्युक्त अर्थ यौगिक प्रक्रिया को लेकर ही किये गये हैं। रूढ़ि और योगरूढ़ि में यह संभव नहीं।

श्री रामचन्द्र यक्ता ने "दयानन्द रहस्य" के पृष्ठ ९४ पर यौगिक प्रक्रिया और महर्षि के वेद पदों की अनेकार्थता के विषय पर मखौल करते हुये लिखा है कि "यदि दो मनुष्यों से, जिन में एक स्वामी जी की रीति का और दूसरा प्राचीन रीति का जानने और मानने वाला हो—गाय लाने के लिए कहा जाय तो प्राचीन रीति का उपासक शीघ्राति शीघ्र गाय लाकर उपस्थित कर देगा और स्वामी जी को रीति का पुजारी यौगिक अर्थ से प्राप्त विशेषण के आधार भूत अनेक द्रव्यों के अन्धकार में धक्के खाता रहेगा। लाख प्रयत्न करने पर भी स्वामी जी के अर्थभूत पृथ्वी, किरण और इन्द्रिय नाम के द्रव्य तो वह ला नहीं सकेगा। यदि सांप, बिच्छू, सिंह और व्याघ्र में गतिरूप विशेषण के आधार पर उसने इन सब को या इन में से किसी एक को लाकर उपस्थित

कर दिया तो स्वामी जी के अर्थ की व्यर्थता का ज्ञान भली-भांति हो जायगा।"

यहाँ पर दयानन्द रहस्य के लेखक की बुद्धि की बलिहारो है और समस्त संसार के मूर्ख स्यात् प्रस्ताव द्वारा इस बुद्धि की प्रशंसा भी करें। इतनी सुन्दर सूझ, उत्तम वैचिती और तर्क-पटुता इसमें प्रकट हो रही है कि इसको देखकर वृहस्पति, शुक्राचार्य और स्वयं गौतम महाराज भी मात हो जावेंगे। अरे मेरे भाई ! महर्षि दयानन्द ने वेद मंत्रों में आये "गौः" पद के पृथ्वी, किरण और इन्द्रिय अर्थ किये हैं—लोक प्रसिद्ध हिन्दी के रूढ "गाय" पद के नहीं। क्या उनके ग्रन्थों में कहीं से यह दिखलाया जा सकता है कि हिन्दी के "गाय" पद का भी उन्होंने पृथिवी किरण और इन्द्रिय अर्थ किया हो। यदि नहीं, तो फिर यह कथित तर्क किस प्रकार महर्षि के अर्थ पर लागू हो सकेगा। कितनी कमाल को युक्ति है कि वैदिक "गौः" पद की अनेकार्थता का खण्डन करने में "हिन्दी के रूढ़ "गाय" पद को साधन बनाया गया।

अस्तु ! यदि उक्त लेखक (दयानन्द रहस्य के लेखक) क कथनानुसार दुर्जनतोषन्याय से वेद के पदों का यौगिक होना क्षण भर के लिए अस्वीकार कर दिया जावे तो क्या उसका कथित प्राचोन रीति का अनुयायी उसकी आज्ञा की पूर्त्ति कर वेदों में कहे गये पदार्थों को लाकर उपस्थित कर उसकी रूढ़िवाद की प्रक्रिया को सार्थक सिद्ध कर सकेगा। मानो कि ! प्राचीन रोति के उपासक से कहा गया कि ऋग्वेद ४।५८।३ में आये "चत्वारि-शृङ्गा" मंत्र में वर्णित रूढ़ि एवं योगरूढ़ि से भासित होने वाले "वृषभ" पद के वाच्य "बैल" को लाओ—ता क्या वह लादेगा। क्या उसने अथवा स्वयं उक्त लेखक ने कहीं ऐसा बैल देखा है

जिसके सींग तो चार हों और पाँव तीन तथा सिर दो हों। साथ ही उसके सात हाथ भी हों। यदि ऐसा बैल नहीं होता तो फिर वह कहाँ से लावेगा। यौगिक प्रक्रिया को विना स्वीकार किये यहाँ पर क्या गति कथित प्राचीन रीति के उपासक की होगी!

इसी प्रकार यजुर्वेद २३।४८ मंत्र में आये हुये वाक्य "गोस्तु मात्रा न विद्यते" तथा यजुर्वेद ३।६ में आये "आयं गौः०" मंत्र को यदि उस कथित प्राचीन रीति के समर्थक के समक्ष रख दिया गया तो क्या वह गाय को माप कर यह कहेगा कि गाय की माप नहीं हो सकती है। तथा गाय को पकड़कर सूर्य के चारों तरफ घुमाकर दिखलावेगा।

यदि ऋग्वेद ७।३५।१३ का मंत्र "शन्नो अज एकपाद् देवः" उसके समक्ष रखा गया तो वह एक पैर वाले बकरे को देव मान कर उससे शान्ति की प्रार्थना करने लगेगा।

अच्छा मान लीजिए, उसके समक्ष ऋग्वेद १।१२।७—"कविमग्निमुपस्तुहि"; "१।१२।६ अग्निना अग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा।" तथा १।१८९।१—"अग्ने नय सुपथा राये" मंत्र रख दिये गये और कहा गया कि मंत्रों में वर्णित अर्थों को ला देवे तो क्या वह लाकर प्रस्तुत कर देगा। क्या संसार में कोई चूल्हे की आग ऐसी है जो कवि हो, गृहपति हो, युवा हो और अच्छे मार्ग पर ले जाने वाली हो।

ऐसे नाममात्र की कल्पित प्राचीन प्रक्रिया के उपासक के सामने यदि ऋग्वेदीय (१।१६४।३५) अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः मंत्रभाग; और ऋग्वेद ६।५५।५ (मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः। भ्रातेन्द्रस्य सखा मम) मंत्र को रखकर कहा जावे कि इनके अनुसार "सोम लावो और दूसरे मंत्र का अर्थ करके सुनाओ तो उसकी क्या स्थिति होगी। वह सोचेगा कि क्या यह

वही सोम है जिसका पान किया जाता है और आगे दूसरे मंत्र को देखकर तो घबड़ा जावेगा कि इस में गालियाँ ही प्रदान की गई हैं। इस प्रकार यौगिक प्रक्रिया को न मानने से इन मंत्रों का अनर्थ हो जावेगा परन्तु महर्षि की यौगिक प्रक्रिया को मान कर इन मंत्रों का वैज्ञानिक अर्थ निकलेगा। ऋषिवर की प्रक्रिया से उपर्युक्त सभी मंत्र विज्ञान दिखलाने लगेंगे; जब कि रूढि अर्थ लेने से अनर्गलता दिखलाई पड़ती है। यौगिकवाद को न स्वीकार करने के कारण ही महीधर ने जहाँ यजुर्वेद के मंत्रों के अनेक अनर्गल अर्थ किये; वहाँ यजुर्वेद १६।२८ मंत्र में "नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च" का अर्थ करते हुये रुद्र के अनुचरों को कुक्कुररूप और श्वपालक बना डाला।

अतः वेद के रहस्य पर पहुँचने के लिए यौगिकवाद और वेद मंत्रों की अनेकार्थता को स्वीकार किये विना कोई अन्य गति नहीं है। महर्षि ने इस प्रक्रिया की स्थापना की और इसके आधार पर वेदार्थ को प्रस्तुत किया। यही वास्तविक प्राचीन प्रक्रिया है।

श्री रामचन्द्र यत्ता ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक के पृष्ठ ९४ पर यह भी लिखा है कि "इसीलिए निरुक्त में नाम शब्दों के यौगिक अर्थ न लेकर योगरूढ अर्थ लेने का सिद्धान्त स्थिर किया गया है।"

परन्तु इस लेखक की यह धारणा सर्वथा ही गलत है। जैसा ऊपर दिखलाया गया है यास्क ने निरुक्त में समस्त पदों की यौगिक व्याख्या की है और वह समस्त वैदिक नाम पदों को यौगिक मानता है। लाखों प्रयत्न करके भी कोई यह नहीं दिखला सकता है कि यास्क ने यौगिक अर्थ न लेकर योगरूढ अर्थ का सिद्धान्त स्थिर किया है। "लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तु सिद्धिः नतु प्रतिज्ञामात्रेण"—परन्तु उक्त लेखक ने एक भी प्रमाण न देकर

अपने को ही स्वतः प्रमाण मान लिया है। यास्क यौगिक पक्ष को मानता है—यह सप्रमाण सिद्ध किया जा सकता है।

महाभाष्यकार पतंजलि[1]ने अपने महाभाष्य ३।३।१ पर यह स्वयं स्वीकार किया है कि निरुक्त में सब नाम धातुज (अर्थात् यौगिक) हैं। स्वयं यास्क ने भी निरुक्त १।१२[2]पर लिखा है कि "सारे नाम आख्यातज (यौगिक) हैं—ऐसा नैरुक्तों का सिद्धान्त और शाकटायन का मत है।"

एक विचित्र बात

पृष्ठ ६४ पर पुनः "दयानन्दरहस्य" के लेखक लिखते हैं कि "इसीलिए आर्य समाज के लाख प्रयत्न करने पर भी पंजाब के विश्वविद्यालय में स्वामी जी के वेदभाष्य के पढ़ाये जाने की स्वीकृति नहीं मिली और विद्वानों ने उसके पक्ष में अपना मत नहीं दिया। इसीलिए किसी और विश्वविद्यालय में उसे स्वीकार नहीं किया गया। इससे यह तत्त्व सुविदित हो जाता है कि स्वामी जी की वेदों के अर्थ करने के शैली⋯नितान्त भ्रान्त और दोषपूर्ण है।"

लेखक का यह लेख बड़ा ही विचित्र मालूम पडता है। क्या यदि कोई भाष्य एवं पुस्तक किसी विश्वविद्यालय में न रखा जावे तो इससे वह नितान्त भ्रान्त और दोषपूर्ण बन जावेगा। सहस्रशः ग्रन्थरत्न पड़े हैं परन्तु विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में नहीं हैं। आज संसार में जितनी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें विश्वविद्यालयों में नहीं पढ़ाई जातीं—क्या वे नितान्त भ्रान्त और दोषपूर्ण हैं ? क्या विश्वविद्यालय के कोर्स में रखा जाना ही किसी पुस्तक की अभ्रान्तता और निर्दोषता की कसौटी है ?

---

[1]नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ॥महा० ३।३।१

[2]तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च॥ निरुक्त १।१२॥

साथ ही रामचन्द्र यक्ता को जिस विषय का परिज्ञान अथवा सूचना नहीं है उस पर भी व्यर्थ ही टांग अड़ाने का प्रयत्न उन्होंने किया है। उनको ज्ञात होना चाहिए कि उनकी पुस्तक दयानन्द रहस्य (उनकी लिखी भूमिका की तिथि के अनुसार) ५-५-५० को तैयार हुई परन्तु ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका और महर्षि के यजुर्वेद के भाष्य के कुछ अध्यायों का संग्रह उससे पूर्व ही पंजाब विश्व-विद्यालय की शास्त्रि-परीक्षा में रखा हुआ है। गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज बनारस; जो अब संस्कृत विश्वविद्यालय है और संस्कृत विद्या के विभिन्न विषयों के अध्ययन का केन्द्र है; उसमें भी बहुत समय से निरुक्त प्रक्रिया की आचार्य परीक्षा में ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका और ऋषि के भाष्य रखे हुये हैं। सन् १९४९ ईस्वी की नियमावली के पृष्ठ ३५ को देख लेना चाहिए और पहले को तथा अब की भी नियमावलियाँ मंगाकर देख लेना चाहिए। जिस विषय का पूरा पता न हो उस पर अनर्गल प्रलाप का क्या लाभ है? क्या यह सच्चाई का गला घोंटना नहीं है? और तो और स्वामी जी के वेदाङ्ग प्रकाश, के संधिविषय, नामिक, आख्यातिक, उणादिकोष, और संस्कार विधि भी मध्यमा में नैरुक्त प्रक्रिया में रखे गये हैं। देखें १९४९ की गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज की नियमावली पृष्ठ १९-२० पर्यन्त।

वेद का ज्ञान इस सृष्टि के आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा—पर प्राप्त हुआ कल्पित ब्रह्मा पर नहीं

महर्षि पर आक्षेप करते हुये दयानन्द रहस्य के लेखक ने इस पुस्तक के पृष्ठ ९४-१०० पर्यन्त अनेक अण्ड-बण्ड बातें लिखी हैं। उनका यह सारा लेख भाषा की दृष्टि से बहुत भद्दा और जघन्य है। अतः उस भाषा का जवाब उसी प्रकार देकर अधिक विस्तार

करने की आवश्यकता नहीं। विज्ञ पाठक स्वयं समझते हैं कि कुवाच्य शब्दों के प्रयोग मात्र से किसी सिद्धान्त का खण्डन अथवा पुष्टि नहीं होती है। यहाँ पर संक्षेप में उठने वाले आक्षेपों पर ही विचार किया जाता है। उपर्युक्त पृष्ठों के समस्त लेख को पढ़ने पर निम्न आक्षेप खड़े होते हैं।

१—प्राचीन वैदिक परम्परा की यह बात प्रसिद्ध है कि परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को चारों वेद जनाये। श्वेता-श्वतरोपनिषद् ६।१८ ("यक्ता" जीने इसे श्वेताश्वितर उपनिषद् लिखा है) का यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै—यह वचन उक्त परम्परा का साक्षी है।

२—परमेश्वर ने अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा नाम के चार महर्षियों को एक एक करके चारों वेद जनाये और उन चारों से ब्रह्मा ने चारों वेद प्राप्त किये—इस कपोल कल्पित नई बात के समर्थन के लिए "अग्नेर्ऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः०" शतपथ और "अग्नि वायुरविभ्यः" मनुवचन उपस्थित करके संसार की आंखों में धूल झोंका है क्योंकि इन प्रमाणों में चारों वेदों और अग्नि आदि के महर्षि होने का उल्लेख नहीं है। इन में यह भी उल्लेख नहीं कि ये व्यक्ति कौन हैं और न इस बात का उल्लेख है कि परमेश्वर ने अग्नि आदि को वेद जनाये।

३—मुण्डकोपनिषद् में (ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव) और अथर्ववेद १६।२३। ३० में "भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे" तथा मनु १।६ के अनुमोदक वाक्य से श्वेताश्वतर वाली पूर्वोक्त बात का समर्थन होकर "ब्रह्मा" का प्रथम होना सिद्ध होता है—अग्नि, वायु आदि का ऐसा कहीं पर उल्लेख नहीं।

४—ब्रह्मा चतुर्वेदविद् की उपाधि नहीं, "प्रहिणोति" क्रिया का अर्थ "दिलवाता है" नहीं है, ब्रह्मा जड़ और चेतन देवों से भी

पूर्व है। ब्रह्मा "विश्वस्य कर्त्ता" भुवनस्य गोप्ता है।

१—इनका क्रमशः समाधान करके महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित इस सिद्धान्त का समर्थन किया जाता है कि परमेश्वर से वेदों का ज्ञान अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा पर प्रकट हुआ और ब्रह्मा को उनसे यह ज्ञान मिला। वेद का ज्ञान सर्वप्रथम, कथित ब्रह्मा पर प्रकट हुआ;इसका प्रमाण वैदिक साहित्य में कहीं पर भी नहीं मिलता है। ईश्वरीय ज्ञान की प्रेरणा का क्या सिद्धान्त है? इस को यहाँ पर समझने की परम आवश्यकता है। वेद स्वयं यह सिद्धान्त स्थापित करता है (इतिहास नहीं बतलाता) कि प्रत्येक कल्प की प्रारंभावस्था में वेद का ज्ञान ऋषियों पर ही आया करता है। वेद की वाणी को "ऋषिषु प्रविष्टाम्[1]" ऋषियों में प्रविष्ट की जाने वाली वाणी कहा गया है। यह ही प्रत्येक कल्प में ऋषियों पर ही प्रकट होती है। इस कोटि के ऋषि दिव्य एवं दृष्टर्षि कहे जाते हैं। अनन्तर इस वेद ज्ञान को श्रवण कर श्रुतर्षि होते हैं। ऋग्वेद १०।४७।३ में परमेश्वर से प्रार्थना की गई है[2]" कि "हे भगवन्! हमें उत्तम ज्ञान वाला, दिव्य गुणों से युक्त एवं यज्ञादि देवकर्मों को करने वाला श्रुत ऋषि=श्रुतर्षि पुत्र दे"। ऋषि क्या होता है और ब्रह्मा क्या होता है इसका भी स्पष्टीकरण वेद से ही हो जाता है। ऋग्वेद १०।१०७।६ में कहा गया है कि

---

[1] यज्ञेन वाचःपदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्। ऋग्वेद १०।७१।३

[2] सु ब्रह्माणं देववतं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र।
श्रुत ऋषिमुग्रमभिमातिसाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।
ऋग्वेद १०।४७।३

"जो[1] मुख्य एवं प्रथित-प्रज्ञ दक्षता से युक्त है। तथा शुक्र=ज्ञान के तीन विस्तार (अधियज्ञ, अध्यात्म, अधिदैव) को जानता है उस यज्ञन्य=यज्ञ प्रक्रियाविद्, सामगाता, उक्थशंसक को ही ऋषि और उसी को ब्रह्मा भी कहा जाता है। इस प्रकार वेद से यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि प्रत्येक सृष्टि के आदि में वेद ज्ञान का प्रकटीकरण और प्रेरण ऋषियों पर हुआ करता है। इतिहास का आधार भी यही दार्शनिक आधार बनाया जावेगा—चाहे वह जब भी बने। यह नहीं हो सकता है कि दार्शनिक सिद्धान्त और सृष्टिनियम तो यह रहे कि वेद वाणी ऋषियों पर प्रकट होती है—श्रुतर्षि उसका विस्तार करते हैं और आत्मसात् करते हैं और इतिहास बना दिया जावे कि वेदों का प्रकाश यक्ता जी के कल्पित ब्रह्मा पर हुआ।

महावेदज्ञ यास्क भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। वे निरुक्त १।२० पर कहते[2] हैं कि "[1]साक्षात्कृद्धर्मा ऋषि हुये। उन्होंने दूसरे असाक्षात्कृद्धर्माओं को मंत्रों का उपदेश दिया। किस प्रकार यह उपदेश गृहीत होगा इस खेद से खिन्न होते हुये दूसरों ने (श्रुतर्षियों एवं पश्चाद्वर्तियों ने) इस ग्रन्थ में ग्रथित ज्ञान नैरुक्त विद्या का समाम्नान किया और उपवेद तथा वेदाङ्गों का समाम्नान किया। यहाँ पर दुर्ग ने "अवरेभ्यः[3]" की व्याख्या

---

[1]तमेव ऋषिं तमु ब्राह्मणमाहुर्यज्ञन्यं सामगमुक्थशंसम्। स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ॥ ऋ० १०।१०७।६

[2]साक्षात्कृद्धर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृद्धर्मभ्य उपदेशेन मंत्रान्सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च ॥ निरुक्त १।२०

[3]ते ये साक्षात्कृद्धर्माणस्तेऽवरेभ्योऽवरकालीनेभ्यः श्रुतर्षिभ्यः। तेषां हि श्रुत्वा ततः पश्चादृषित्वमुपजायते न यथा पूर्वेषां साक्षात्कृद्धर्मणां श्रवणमन्तरेणैव ॥ नि० १।२० पर

करते हुये श्रुतर्षि अर्थ किया है। दुर्ग का आशय यह है कि प्रथम कोटि के ऋषि साक्षाद्धर्मा हैं और उसके पश्चात् उनसे उपदेश ग्रहण करके होने वाले ऋषि श्रुतर्षि हैं। दुर्ग भी यहाँ यास्क प्रतिपादित इतिहास से उपरिलिखित वेदसिद्धान्त की पुष्टि कर रहा है।

इन आधारों को लेकर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में दिये "अग्नेर्ऋग्वेदः०॥ और "अग्निवायुरविभ्यस्तु" प्रमाणों की अर्थसंगति लगाई और इसे इतिहास का रूप दिया। जिन्होंने इस अर्थ से भिन्न अर्थ किये हैं, गलत किये हैं। यही प्राचीन परम्परा है। कल्पित ब्रह्मा को वेद का ज्ञान सर्वप्रथम मिला यह प्राचीन परम्परा नहीं है—यह पौराणिकी कपोल कल्पित परम्परा है।

दयानन्द रहस्य के लेखक ने श्वेताश्वतर उपनिषद् का जो प्रमाण दिया है; उससे उसका पक्ष और उसकी कथित प्राचीन परम्परा सिद्ध नहीं होती है। हाँ! उसकी श्वेताश्वितर नाम की किसी अपनी उपनिषद् में ऐसा प्रमाण हो तो वही जाने। श्वेताश्वतर उपनिषद् का वाक्य यह बतलाता है कि "जो (परमेश्वर ब्रह्मा को पूर्व रचता है और जो उसके लिए वेदों को "प्रहिणोति" = भेजता एवं दिलाता है—उसकी शरण को मैं मुमुक्षु प्राप्त होऊँ)। जब क्रिया ही भेजने और दिलाने का अर्थ दे रही है तो फिर दिया की कल्पना को क्या अवकाश रह जाता है। यदि "प्रहिणोति" क्रिया का अर्थ किसी प्रकार "देता है" लिया जावे तो ब्रह्मा औपाधिक होगा व्यक्तिविशेष नहीं। ऐसी स्थिति में अग्नि आदि ऋषि भी ब्रह्मा ठहरेंगे। भगवान् दयानन्द ने भी सत्यार्थ प्रकाश में इस मंत्र का भावार्थ लिखते हुये "स्थापित कराया" लिखा है। यह भेजना,

और दिलाना तो किसी के द्वारा ही होगा। तीसरा माध्यम हुये बिना भेजना और दिलाना बन नहीं सकता है। यह माध्यम जिस के द्वारा ब्रह्मा पर वेद भेजे अथवा दिलाये गये—अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा ऋषि हैं।

यक्ता जी के परम श्रद्धेय आचार्य शंकर ने इस वाक्य का अर्थ करते हुये "ब्रह्मा" का अर्थ "हिरण्यगर्भ[१]" किया है। श्वेताश्वतर ३।४ में पाया भी जाता है "हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्" अर्थात् जिसने पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया। ब्रह्माणम्" की व्याख्या करते हुये विवरणकार विज्ञान भगवत् ने लिखा है कि "ब्रह्माणं सर्वजीव-समष्टिरूपं हिरण्यगर्भम्[२]—अर्थात् सर्वसृष्टि का समष्टिरूप यह हिरण्यगर्भ ही ब्रह्मा है। टीकाकार शंकरानन्द ने भी "ब्रह्मा" का हिरण्यगर्भ[३] ही अर्थ किया है।

अतः दो ही पक्ष यहाँ पर अर्थ करने पर बनते हैं—एक तो सर्व जीवों का समष्टिरूप हिरण्यगर्भ अथवा ब्रह्मा उपाधि से युक्त अग्नि आदि का चतुष्क और दूसरा ब्रह्मा ऐतिहासिक अथवा चतुर्वेदवित्। इन दोनों पक्षों में "यक्ता" की कथित प्राचीन परम्परा सिद्ध नहीं होती।

२—दूसरे आक्षेप का समाधान यह है कि अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नाम के चार ऋषियों का वर्णन इतिहास का विषय है। वैदिक परम्पराओं के इतिहास की अधिक कड़ियाँ लुप्त हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों और मनु आदि में जो भी कुछ संकेत मिलता है; उस को भी भाष्यकारों ने दूषित कर दिया अन्यथा अर्थ करके। अतः

[१, २, ३] देखें आनन्दाश्रम पूना संस्करण १९०५ सन् का श्वेताश्वतर उपनिषद् पर भाष्यत्रय—शंकर, शंकरानन्द और विज्ञान भगवत् कृत॥

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने "अग्नेर्ऋग्वेदः" और "अग्निवायुरविभ्यः" के प्राचीन परम्पराप्राप्त विशुद्धार्थ को लोगों के समक्ष उपस्थित किया और यह दिखलाया कि ये अन्यथा भाष्य करने वाले भाष्यकार उल्टे मार्ग पर बह गये। जैसा कि प्रथम आक्षेप के समाधान में दिखलाया जा चुका है कि वेद ज्ञान ऋषियों द्वारा कल्प के आदि में मिलता है और यास्क ने इतिहास से भी इस बात की पुष्टि कर दी है तो उसकी अवलेहना करते हुये यदि कोई एतत्सम्बन्धी इतिहास को बताने वाले वाक्यों का अर्थ विपरीत करे तो अनर्गल-प्रलाप और अनभिज्ञता ही है।

"अग्नेर्ऋग्वेदः" यह शतपथ ११।५।८।३ पर है। सत्यार्थ प्रकाश शताब्दी संस्करण में इसका हवाला ११।४।२।३ दिया गया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ११।५ दिया गया है। श्री रामचन्द्र यक्ता ने सत्यार्थ प्रकाश में १४।४।२।३ का होना लिखा है जो सर्वथा गलत है। यह सब दिखलाने का प्रयत्न यक्ता ने स्यात् इसलिए किया है कि वे महर्षि की गलती दिखलाना चाहते हैं। परन्तु इससे महर्षि की गलती सिद्ध नहीं होती है। यक्ता का अपना दुःसाहसमात्र और घोर शास्त्रानभिज्ञता ही प्रकट होते हैं। शतपथ में काण्ड अध्याय और वचन का क्रम भी है और काण्ड प्रपाठक तथा ब्राह्मण का भी। अतः जो ११।४।२।३ है वही ११।५।८।३ है। इसमें कोई भेद नहीं। तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी ११।५ लिखा है १४।५ नहीं। यहाँ संक्षेप में ऋषिवर ने काण्ड और अध्याय का हवाला दिया है। परन्तु यह सब ज्ञात हो सकता है उसे जिसने शतपथ आदि को पढ़ा हो; उसे क्या ज्ञात हो सकेगा जिसने देखा तक भी नहीं और देखने पर भी जिसकी समझ के यह बाहर है। इस प्रमाण में अग्नि, वायु और आदित्य (सूर्य) से

ऋषियों का ही ग्रहण है। शतपथ में इन्हें तीन ज्योतियाँ कहा गया है। यह भी इनकी ज्ञानविशेषता के कारण है। क्या चेतन में ज्योति पद का प्रयोग नहीं हो सकता है। महर्षि ने अन्य ब्राह्मणों के पूर्वापर को देखकर अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा का वर्णन किया।

'गोपथ ब्राह्मण' पूर्वार्ध प्रथम प्रपाठक छठें (६) खण्ड में भी इसका वर्णन है। परन्तु आगे चलकर ८ वें वाक्य खण्ड में यह कहा गया है कि प्रजापति ने अङ्गिरा[1] ऋषि को श्रान्त किया और उससे आङ्गिरस वेद हुआ। ब्राह्मणकार के इस वर्णन को आधार लेकर भगवान् दयानन्द ने अग्नि, वायु, आदित्य को भी अङ्गिरा की भांति ऋषि माना और सब मिलाकर चार ऋषियों पर चार वेदों का प्रकट होना बतलाया। ये तीनों एवं चारों व्यक्ति ऋषि हैं और एक-एक पर एक-एक वेद प्रकट हुआ। गोपथ ब्राह्मण के बताये प्रकार से ही ऊपर के शतपथ वाले वाक्य का भी अर्थ लगेगा। "अग्निवायुरविभ्यः" का अर्थ भी महर्षि ने ठीक ही किया है। श्लोक में "दुदोह" क्रिया पड़ी है। अतः इस का अर्थ होगा कि इन से दुहा। जड़ा पदार्थों से दुहने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः यहाँ पर अग्नि, वायु और रवि ऋषि हैं—यही अर्थ युक्त भी है। अथवा इस श्लोक में पड़े "अग्नि वायुरविभ्यः" पद को चतुर्थी विभक्ति में भी किया जा सकता है। उस अवस्था में यह अर्थ होगा कि 'परमेश्वर ने यज्ञ की सिद्धि के निमित्त ऋग्, यजु और साम को अग्नि वायु और रवि के लिए दिया। फिर यहाँ पर अङ्गिरा का वर्णन कहाँ से कर दिया ?—इसका

[1]तमङ्गिरसमृशिमभ्यश्राम्यत्..........यान् मंत्रानपश्यत् स आङ्गिरसो वेदोऽभवत्। गो० पू० १।८। (जीवानन्द कलकत्ता संस्करण)

समाधान यह है कि मनु[1]२।१५१ में यह वर्णित है कि अङ्गिरा के पुत्र ने अपने चाचा आदि को मंत्र पढ़ाया। यहाँ पर मंत्र का प्रकरण भी चल रहा है। क्योंकि अगले श्लोक में मंत्रदः' पद भी पड़ा है। शतपथ में आया "अग्नेर्ऋग्वेदः" वाक्य गोपथ और ऐतरेय ब्राह्मणों में भी है[2]। परन्तु सब में भाव एक ही होते हुये थोड़ा-थोड़ा पाठ भेद है। इस प्रकार यह बात सुतराम् सिद्ध है कि अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा पर वेद प्रकट हुये।

रही बात चार वेदों की, उसका समाधान किया जाता है। शतपथ के उद्धृत वाक्य में ऋक्, यजु, और साम का वर्णन है। मनु के भी वाक्य में इन्हीं का वर्णन है। इसका कारण यह है कि यहाँ पर "त्रयीविद्या" का वर्णन है। शतपथ के जिस स्थल का यह उपर्युक्त वाक्य है उसी प्रसंग में आगे चल कर लिखा है कि ऋचा से होता का कार्य होता है, यजुः से अध्वर्यु का और साम से उद्गाता का तो ब्रह्मत्व किससे होगा ?—अर्थात् इस त्रयी विद्या से—ऐसा बोलना चाहिए[3]। मनु के दिये गये श्लोक में भी "यज्ञसिध्यर्थम्" पद पड़ा है। अतः यज्ञ को परिभाषा में चारों वेदों को त्रयी-विद्या कहा जाता है। चारों वेदों के मंत्र ऋक्, यजुः और साम की परिभाषा में आते हैं अर्थात् चारों वेदों में तीन

---

[1]अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः। मनु २।१५१।

[2]देखें-गोपथ पूर्वार्ध १।६—अग्नेर्ऋग्वेदं वायोर्यजुर्वेदमादित्यात्साम-वेदम् ॥ जीवानंद कलकत्ता संस्करण सन् १८९१, देखें—ऐतरेय—ऋग्वेद एवाग्नेरजायत् यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् ॥ पंचिका ५, अध्याय ५, वाक्य ३२ निर्णयसागर संस्करण सन् १९२५ मूलमात्र।

[3]अथ केन ब्रह्मत्वमित्यनया त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात् ॥
शतपथ ११।५।८।७।

ही प्रकार के मंत्र होते हैं अतः इन्हें त्रयी से ही कहा गया है। आगे चलकर शाखा के प्रसंग में वेदों के चतुष्ट्व प्रतिवपादन के समय इस पर विचार किया जावेगा। तात्पर्य यह है कि यह याज्ञिकी परिभाषा है चारों वेदों के मंत्रों के प्रकार की। इसका यह अर्थ नहीं है कि वेद ही तीन हैं। ऐसी थोथी कल्पना शास्त्रानभिज्ञ ही कर सकता है, शास्त्र प्रवीण नहीं।

३—मुण्डकोपनिषद् का वाक्य भी (ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव) श्री रामचन्द्र यक्ता के पक्ष की पुष्टि नहीं करता है। यह पूर्वोक्त (प्रथम आक्षेप में) दिये गये श्वेताश्वतर के वाक्य का भी समर्थन नहीं करता है। यहाँ पर ब्रह्मा पर वेद का प्रकाश हुआ यह तो किसी भी तरह इस वाक्य से निकलता नहीं। ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को वेदों का उपदेश दिया—यह इस उपनिषद् के मंत्र में कहाँ पर वर्णित है। यहाँ पर उक्त लेखक की बुद्धि की तीव्रता की जितनी प्रशंसा की जावे थोड़ी है। कहना चाहिए कि ऐसी बुद्धि को सुरक्षित रखने के लिए नवीन प्रकार के अद्भुतालय की खोज करनी पड़ेगी। आँख खोलकर देखने की आवश्यकता है। मुण्डकोपनिषद् के इस मंत्र में तो स्पष्ट ही लिखा है कि "ब्रह्मविद्यां सर्व विद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह" अर्थात् सर्वविद्याओं की प्रतिष्ठाभूत ब्रह्मविद्या (उपनिषद्विद्या) का उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को उपदेश किया। यहाँ पर वेद कहाँ से कूद पड़े। क्या यह सीधे ही आँख में धूल डालने से कुछ कम है। लिखा ब्रह्मविद्या का उपदेश और ग्रहण किया जावे वेद का उपदेश।

यहाँ पर यक्ता जी से यह पूछना चाहिए कि वे इस उपनिषद् में पड़े हुये "देवानां प्रथमः" पदों में देवानां का क्या अर्थ करते हैं? देव वे किसे मानते हैं? वे देव का विद्वान् अर्थ ग्रहण करते

हैं, अथवा अग्नि, वायु आदि जड़ पदार्थ, अथवा पौराणिकों के माने विष्णु, शिव, इन्द्र आदि कपोल कल्पित देव। यदि विद्वान् अर्थ ग्रहण करें तो ब्रह्मा ब्रह्मविद्या के विद्वानों में प्रथम ठहरता है। ऐसी स्थिति में अग्नि, वायु आदि ऋषियों से पूर्ववर्त्ती कैसे हो सकता है ? यदि वे अग्नि, वायु आदि जड़ देव अर्थ लेते हैं तो ब्रह्मा इन में प्रथम कैसे बन सकता है। यदि काल की दृष्टि से वह इन से प्रथम बने तो सर्वथा ही अनर्गल है क्योंकि सृष्टि में भोग्य और सृष्टि-तत्त्वभूत अग्नि आदि पदार्थों की उत्पत्ति चेतन शरीरधारियों से पूर्व हो जाती है। यदि मुख्यता की दृष्टि से प्रथम माना जावे तो ब्रह्मा को भी जड़ पदार्थ मानना पड़ेगा। यदि "देवानाम्" का अर्थ पौराणिक देव हैं तो भी ब्रह्मा उन में प्रथम उत्पन्न हुआ नहीं बनता है। क्योंकि पुराणों के अनुसार विष्णु की नाभि से कमल और कमल से ब्रह्मा उत्पन्न होता है। फिर तो ब्रह्मा से पहले विष्णु का उत्पन्न होना स्वीकार करना पड़ेगा। क्या यह वही ब्रह्मा है जिसके पौराणिक लोग चार मुख मानते हैं और यज्ञ के समय में कुश का बना कर रख देते हैं।

यह कहना कि देव का अर्थ विद्वान् मानने पर जिन वेद मंत्रों में ईश्वर अर्थ ग्रहण किया गया है वहाँ पर भी विद्वान् अर्थ होगा—कोई अर्थ नहीं रखता। क्या सैन्धव का अर्थ घोड़ा मानने पर नमक के प्रसंग में भी घोड़ा ही अर्थ होगा। शब्दों का अर्थ प्रकरण से किया जाता है। अतः जहाँ पर जैसा प्रकरण होगा वैसा अर्थ "देव" पद का हा सकेगा।

एक वस्तु यहाँ पर विचारने की यह भी है कि यहाँ पर ब्रह्मा का ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा कहा गया है। परन्तु आपके पुराणों

में ब्रह्मा के जो पुत्र गिनाये गये हैं—उनमें अथर्वा का नाम नहीं आता है। महाभारत[1]आदिपर्व (संभवपर्व) अध्याय ६५ श्लोक १० में ब्रह्मा के मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु—ये छः मानस पुत्र माने गये हैं। श्रीमद्भागवत[2]स्कन्ध ३ अध्याय १३ श्लोक २२ में ब्रह्मा के मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद—ये दश पुत्र माने गये हैं। पुनः श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३, अध्याय १२ श्लोक[3] ४ में सनक, सनन्द, सनातन को और सनत्कुमार को ब्रह्मा के मन से उत्पन्न हुआ माना गया है। इन में अथर्वा का कहीं पर नाम तक नहीं है। इतना ही नहीं जिस ब्रह्मा को प्रथम पैदा हुआ माना जा रहा है उसके विषय में भी कोई अन्य प्रमाण नहीं पाया जाता है। यजुर्वेद ३१।९ में लिखा है कि उस विराट्[4]पुरुष परमेश्वर के निमित्त से साध्य देव और ऋषि पैदा होते हैं। ब्रह्मा का साध्य देवों में कहीं परिगणन नहीं हैं। साथ ही मंत्र यह भी बतला रहा है कि ऋषि लोग उत्पन्न होते हैं। फिर यह चतुः कमलानन ब्रह्मा प्रथम कहाँ रहा। महीधर[5]ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।

---

[1]ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः। मरीचिरत्रिरङ्गिरसौ-पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः॥ महाभारत आदि पर्व ६५।१०।

[2]मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्त्वत्रनारदः॥ श्रीमद्भागवत ३।१२।२२। मास्टर खेलाड़ी लाल का मूलसंस्करण।

[3]सनकं च सनन्दं च सनातनमथात्मम्। सनत्कुमारं च मुनीश्वरान्निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः। भाग० ३।१२।४,

[4]तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये। यजुः ३१।९।

[5]ये च तदनुकूलाः महर्षयः मंत्रद्रष्टारः—महीधर भाष्य ३१।९।

यदि यक्ता के माने हुये के अनुसार "विश्वस्य कर्त्ता" और "भुवनस्य गोप्ता" के बल को ही थोड़ो देर के लिये स्वीकार कर लिया जावे तो फिर उनकी सारी रही सही कल्पना भी समाप्त हो जावेगी क्योंकि परमेश्वर के अतिरिक्त कोई विश्व का कर्त्ता नहीं हो सकता है। फिर वहाँ पर ब्रह्मा का अर्थ परमेश्वर माना पड़ेगा। यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि महर्षि ने भागवत आदि में लिखित ब्रह्मा के मानस पुत्रों में आये अङ्गिरा अथवा मुण्डक १।१ में आये अङ्गिरा पर वेद का प्रकट होना नहीं माना है। उन्होंने तो सृष्टि के आदि में पैदा होने वाले अङ्गिरा पर वेद का प्रकट होना स्वीकार किया है। अनेकों ब्रह्मा और अनेकों अङ्गिरा हो चुके हैं।

इस उपनिषद् मंत्र का एक अर्थ और भी लग सकता है। वह यह है कि देवों अर्थात् जगत् के सृष्टि सर्जक पदार्थ सामग्री में उनका विस्तार करके प्रथनशील (प्रथमः) देव परमेश्वर ही विराट् रूप से सर्व प्रथम प्रकट हुआ। उसने अपने (अमैथुनी सृष्टि में होने के कारण ज्येष्ठ कहे जाने वाले) ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा=स्थिरमति अङ्गिरा को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। उसने अङ्गीः और पुनः उसने (अनेक युगों पश्चात् होने वाले) अङ्गिरा को उपदेश किया इत्यादि॥ यहाँ पर उपनिषद् में जो क्रम वर्णित है वह इतिहास की कड़ी नहीं है। इन कड़ियों के मध्य में अनेक व्यक्ति हो चुके हैं। अङ्गिरा भी अनेक हो चुके हैं। यह पांचवी ही पीढ़ी नहीं हैं। अनेक पीढ़ियाँ भी इनके मध्य में बीत चुकी हैं। यह औपाधिक नाम भी हो सकता है जैसा कि व्यास नाम है। इस अर्थ की युक्तता इस प्रकार जाननी चाहिए कि मूण्डकोपनिषद् अथर्ववेद की उपनिषद्[1] है। शौनक एक शाखा

---

[1] ब्रह्मादेवानामित्याद्याथर्वणोपनिषद्—मुण्डक का शांकर भाष्य १।१

का प्रवक्ता भी है अतः उसी प्रकार के संक्षिप्त क्रम की कल्पना भी उपनिषत्कार ने कर ली है।

अथर्ववेद १६।२३।३० मंत्र के ब्रह्मा पद का अर्थ दयानन्द रहस्य के लेखक का माना हुआ ब्रह्मा नहीं है। यहाँ पर तो सृष्टि कर्त्ता परमेश्वर अर्थ है और मंत्रस्थ सारी स्थिति ही इसकी पुष्टि करती है। साधारण संस्कृतज्ञ भी इसी अर्थ पर पहुँचेगा।

पूरा मत्र और अर्थ इस प्रकार है—

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥
अथर्व १६।२३।३०, तथा १६।२२।२१

अर्थ—(संभृता) संसार के पदार्थों में भरे एवं सुरक्षित पराक्रम (ब्रह्म ज्येष्ठा) परमेश्वर को श्रेष्ठ एवं प्रधान रखने वाले हैं। (ब्रह्म) परमेश्वर ने ही (अग्रे) पहले (दिवम्) ज्ञान, प्रकाश एवं द्युलोक का विस्तार किया (ब्रह्मा) सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर (भूतानाम्) प्राणियों में (प्रथमः उत) कर्त्तारूप से एवं निमित्त कारणता से सर्वप्रथम हो (जज्ञे) प्रकट एवं परिज्ञात होता है। (तेन) इस लिए (ब्रह्मणा) उस महान् परमेश्वर से (कः) कौन (स्पर्धितुम्) स्पर्धा करने की (अर्हति) सामर्थ्य रखता है अथवा कौन स्पर्धा करने योग्य हो सकता है।

यहाँ पर मंत्र में परमात्मा ही को ब्रह्मा कहा गया है। उसे ही ज्येष्ठ कह कर "द्यु" को ज्येष्ठ कहा गया है। यह भी परमकारुणिक भगवान् दयानन्द की कृपा है कि रामचन्द्र जी यत्ता भी अर्थ जाने या नहीं—वेद मंत्र का हवाला तो दे सकते हैं।

मनुस्मृति १।६ श्लोक में भी ब्रह्मा का अर्थ सर्वलोकों का पितामह=महान् पालक परमेश्वर ही है। श्लोक में हैमाण्ड का

अर्थात् विराट् का वर्णन है। अतः वहाँ पर ब्रह्मा का प्रकट होना इस बात को बतलाता है कि विराट् में जगत्कर्त्ता परमेश्वर निमित्तता से प्रकट हुआ अर्थात् अब अप्रज्ञात और अप्रतर्क्य नहीं रह गया। अर्थ करते समय पूर्वापर देखकर ही तो चलना चाहिये। अन्यथा लालबुझक्कड़ पने की बात ही चरितार्थ होती है। मनुस्मृति १।११ में ब्रह्मा की परिभाषा भी कर दी गई है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है :—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः सः पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥
मनु १।११

अर्थ—जो समस्त जगत् का भावरूप और अदृश्य रूप नित्य अव्यक्त कारण प्रकृति है, उससे युक्त हुआ अथवा उसके साथ प्रसिद्ध एवं प्रकट हुआ परमेश्वर लोक में ब्रह्मा कहा जाता है।

इसके आगे के श्लोकों[1] में लिखा है कि उस अण्डे में (हैमाण्ड में) परिवत्सर पर्यन्त स्थित होकर भगवान् ने स्वयं अपने ध्यान से उस अण्डे के दो टुकड़े किये। उन दोनों कल्पित टुकड़ों से द्युलोक और भूमिलोक बनाया। बीच में आकाश आदि दिशायें और जल का सनातन स्थान बनाया। ये श्लोक स्पष्ट कर रहे हैं कि जगत् का कर्त्ता परमेश्वर ही ब्रह्मा मनु के उद्धृत श्लोक (१।९) में अभिप्रेत है।

४—ब्रह्मा चतुर्वेदविद् की उपाधि नहीं यह भी गलत है।

---

[1]तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा॥१२॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योमदिशश्चाष्टावपां संस्थानं च शाश्वतम्॥
॥१३ मनु १।१२—१३॥

ऋग्वेद १०।७१।११ में ब्रह्मा का अर्थ चतुर्वेदविद् ही है। मंत्र में कहा गया है कि "[1]एक=होता यज्ञ में ऋचाओं से कर्म की पुष्टि करता है (आशंसन के द्वारा) एक=उद्‌गाता शक्वरी ऋचाओं में साम का गान करता है। एक—अध्वर्यु यज्ञ की मात्रा का मान करता है और ब्रह्मा समय-समय पर यज्ञ में होने वाले कर्त्तव्यों का निर्देश करता है। यहाँ पर सायण ने लिखा है कि ब्रह्मा[2] सब (यज्ञ के चारों ऋत्विजों के कर्म को) जानने में समर्थ होता है। यास्काचार्य ने निरुक्त १।८ पर इस मंत्र की व्याख्या की है और उसने इस मंत्र में होता, उद्‌गाता अध्वर्यु और ब्रह्मा—इन यज्ञ के चार ऋत्विजों का वर्णन किया है। वह इसी प्रसंग में अर्थ करते हुए लिखता है—"ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितु मर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततो ब्रह्म परिवृढं सर्वतः"—अर्थात् ब्रह्मा सर्व विद्याओं वाला होता है, वह सब जानने में समर्थ है। वह शास्त्र से परिवृढ और ब्रह्मवेद सर्वतः परिवृढ ज्ञान से पूर्ण होता है। दुर्ग इसकी टीका करते हुए कहते हैं कि—"स त्रयीं विद्यां वेद। ऋगादिपरं चोभयमपि परिवृढं सर्वासु दिक्षु"—अर्थात् ब्रह्मा त्रयी विद्या को जानता है। वेद सर्वत्र ज्ञान से परिपूर्ण होता है अतः वह ब्रह्म कहा जाता है। गोपथ पूर्वार्ध २।२४ में कहा गया है कि "अथर्व वेद को जानने वाले को ही यज्ञ में ब्रह्मा वरण करना चाहिये—(अथर्वाङ्गिराविदमेव ब्रह्माणं वृणीष्व)। ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वत्र चतुर्वेदविद् को ब्रह्मा कहा

---

[1]ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा तो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्त्वः।

ऋग् १०।७१।११

[2]ब्रह्मा हि सर्वंवेदितुं योग्यो भवति खलु। सायणभाष्य १०।७१।१

गया[1] है। दयानन्द रहस्य के कर्त्ता ने शास्त्र की मर्यादा को न समझते हुए व्यर्थ में ही अनेक कटु और अवांछनीय बातें श्री पं० भगवद्दत्त जी के लिये लिखी हैं। शास्त्रानभिज्ञ कोई यदि किसी बात का न समझ कर अनुचित शब्दों के प्रयोग पर उतरता है तो वह अपनी जग हसाई ही करता है। श्री यक्ता का यह कहना कि बिना वेद, वेदाङ्गों और उपाङ्गों को पढ़े ही ब्रह्मा ब्रह्मा था और वह वेदों के पढ़ने से पूर्व ब्रह्मा था, कितनी विचित्र बात है। फिर तो पूछना पड़ेगा कि वह था क्या ? केवल नाम का ब्रह्मा था अथवा और कुछ। ऐसा ब्रह्मा तो आपके दिये गये किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। ब्रह्मा चतुर्वेदविद् की उपाधि है और वह ऋषि का उपाधि के रूप में प्रयुक्त होकर अग्नि, वायु आदि ऋषियों का अर्थ भी दे सकता है। प्रथम आक्षेप के समाधान में ब्रह्मा का इस प्रकार का अर्थ दिखला दिया गया है।

प्रहिणोति क्रिया का अर्थ "दिलवाना" है—यह भी ठीक है। "प्रहिणोति" पद "प्र" उपसर्ग पूर्वक "हि" गत्यर्थक और वृद्धयर्थक धातु का वर्तमान काल में अन्य पुरुष का एक वचन का रूप है। इसका अर्थ भेजना, प्रेषित करना, पहुँचाना और बढ़ाना आदि हो

---

[1] यमेवामुं त्रय्यै विद्यायै तेजो रसं प्रावृहत्तेन ब्रह्मा ब्रह्मा भवति ॥
कौषीतकी ६।११

अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति त्रय्या विद्ययेति। ऐतरेय ५।३३

अथ केन ब्रह्मत्वमित्यनया त्रय्या विद्ययेति ह ब्रूयात्।
शतपथ ११।५।८।७

तस्माद् यो ब्रह्मनिष्ठः स्यात्तं ब्रह्माणं कुर्वीत। गोपथ उत्तराध १।३

एष ह वै विद्वान् सर्वविद् ब्रह्मा यद् भृग्वङ्गिरोविद्।
गोपथ पूर्वार्ध २।१८;५।११

सकता है। आचार्य दुर्ग ने भी निरुक्त ७।२० पर "प्रेरयत" किया है। वेदान्त शांकरभाष्य (वेदान्त १।३।३० पर) में भी इस श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।१८ वाले मंत्र का उल्लेख है। इस स्थल पर टीका करते हुए "रत्नप्रभा टीका" में भी टीकाकार ने "प्रहिणोति" का अर्थ "गमयति" और "आविर्भावयति" किया है। निर्णय सागर से १९१५ सन् के छपे हुए मूल शंकरभाष्य में भी इस संस्करण के सम्पादक वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर ने इस वेदान्तसूत्र १।३।३० के फुटनोट में इस अर्थ को दिया है। ऐसी स्थिति में महर्षि दयानन्द और श्री पं० भगवद्दत्त जी का किया अर्थ किस प्रकार गलत हो सकता है। "प्रहिणोति" क्रिया अन्तर्भावित णिजर्थ को लिए हुए है।

इस चौथे आक्षेप के शेष विषय का उत्तर १, २, ३ शीर्षकों के समाधान में आ चुका है। अतः यहाँ विस्तार की आवश्यकता नहीं रह जाती है। पाठक वहीं पर देख लें।

शाखायें वेद के व्याख्यान हैं अथवा वेद ही हैं ?

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती शाखाओं को वेद का व्याख्यान मानते हैं। परन्तु दयानन्दरहस्य के लेखक ने इस पर आक्षेप किया है और लिखा है कि वेदों की शाखाओं को वेदों की व्याख्या ठहराना यह बतलाता है कि स्वामी जी को वेदों के स्वरूप का कुछ भी ज्ञान न था। इस सम्बन्ध में इस पुस्तक में पृष्ठ १००-११६ तक जो कुछ लिखा गया है उसमें जितने विचारणीय बिन्दु अथवा आक्षेप उठते हैं उनका क्रमशः उल्लेख कर समाधान किया जाता है—

(१) सत्यार्थप्रकाश की तीसरी आवृत्ति तक शाखाओं की संख्या १२७ और ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका में ११२७ और

नामिक में महाभाष्य के स्वामी जी द्वारा किये गये अर्थ के अनुसार ११३१ शाखायें बनती हैं।

(२) ऋग्वेद की वर्तमान शाकल शाखा के अतिरिक्त कोई शाखा अभी प्राप्त और प्रसिद्ध नहीं हुई है। शुक्ल यजुर्वेद की प्रसिद्ध शाखा के अतिरिक्त एक काण्व शाखा ससायण भाष्य (२० अध्याय तक जिसका सायण भाष्य भी प्रसिद्ध हो चुका है) कृष्ण यजर्वेद की मैत्रायणी, तैत्तिरीय और काठक शाखायें तथा साम की जैमिनीय और अथर्व की पैप्पलाद शाखायें मिल चुकी हैं। इनके देखने से ये मूल वेद की व्याख्या नहीं सिद्ध होती हैं—पाठान्तर के सहित मूल वेद ही सिद्ध होती हैं।

(३) सत्यव्रत सामश्रमी और हरिप्रसाद के मत से शाखायें वेद नहीं सिद्ध होती हैं—इनसे स्वामी जी का पक्ष कट जाता है।

(४) "इषे त्वोर्ज्जे०" इत्यादि प्रतीकें देकर व्याख्यान किये जाने की तैत्तिरीय संहिता के देखने से गन्ध तक नहीं मिलती और यह प्रतीक देकर व्याख्यान करना शाखाओं को व्याख्यान नहीं बना सकता है—क्योंकि स्वामी जी के माने यजुर्वेद ३२।३ मंत्र में इसी वेद के १२।१०२; १३।४ और ८।३६ की प्रतीकें पायी जाती हैं।

(५) मंत्रसंहितायें भी ईश्वर के नाम से प्रसिद्ध नहीं हैं—क्योंकि स्वामी जी की मानी चार संहितायें भी शाकल शाखा, कौथुमी शाखा, माध्यन्दिन शाखा और शौनक शाखा कहलाती हैं।

(६) वैदिक वाङ्मय के इतिहास में (दयानन्द रहस्य के लेखक ने वाङ्ङमय लिखा है)"भ्रातृव्यस्य वधाय" का "द्विषतो वधाय"; "एष वो अमी राजा" "एष वः कुरवो राजेष पाञ्चाला राजा" का उदाहरण देकर जो मूल पाठ और अर्थ पाठ का तर्क उठाकर

शाखा को व्याख्यान कहा गया है वह ठीक नहीं। स्वामी जी के ऋग्वेद १०।१५।१४ और अथर्ववेद १८।२।६५ के 'अग्निदग्धाः" पाठ और यजुर्वेद के "अग्निष्वात्ताः" पाठों को एक दूसरे का अर्थ नहीं माना जाता है।

(७) महाभाष्यकार ने पश्पशाह्निक में चार शाखाओं के आदि मंत्रों की चार प्रतीकें दी हैं। इनमें से तीन तो स्वामी जी के मूल वेद मानी गई संहिताओं में मिलती हैं। चौथी "शन्नो देवी-रभिष्टये" नहीं मिलती है—"ये त्रिषप्ताः" प्रतीक मिलती है। यह "शन्नो देवीरभिष्टये" अथर्व के आदि मंत्र की प्रतीक है—ऐसा भाष्यकार और गोपथ ब्राह्मणकार को स्वीकार है—ऐसी स्थिति में मूल वेद पैप्पलाद शाखा ही ठहरती है।

(८) महाभाष्यकार पतंजलि शाखा को भी वेद ही मानते हैं क्योंकि शब्दों के अप्रयुक्त एवं प्रयुक्त होने सम्बन्धी प्रश्न को उठा कर जो प्रतीकें दी हैं; उन में से प्रथम स्वामी जी के माने ऋग्वेद में और चौथी ऋग्वेद एवं यजुर्वेद में मिलती हैं। तीसरी प्रतीक माने हुये मूल वेद में किसी में नहीं मिलती। केवल कृष्ण यजुर्वेद की काठक शाखा में मिलती है। दूसरी प्रतीक न किसी माने हुये मूल वेद और न किसी शाखा में मिलती है।

(९) पाणिनि की अष्टाध्यायी ७।१।४९ "स्नात्व्यादयश्च "सूत्र में लिखा "स्नात्वी" पद स्वामी जी की मानी चारों मूल वेद—संहिताओं में नहीं मिलता है। यजुः—और अथर्व में "स्नातो" "स्नात्वा" पद मिलते हैं परन्तु कृष्ण यजुर्वेद की काठक शाखा ३८।५।६३ और मैत्रायणी शाखा ३।११।१११ और तैत्तिरीय ब्राह्मण २।४।४।९ में ही स्नात्वी पद मिलता है—अतः पाणिनि के अनुसार ये शाखायें वेद हैं।

(१०) पाणिनीय सूत्र ३।१।१२३ में आया "निष्टर्क्य पद वेद में प्रयुक्त हुआ, इस सूत्र से कहा गया है। इस शब्द के प्रयोग के उदाहरण में "निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः" प्रतीक दी गई है। स्वामी जी ने भी व्याकरण के अपने आख्यातिक ग्रन्थ के पृष्ठ २९८ पर यही उदाहरण दिया है। यह स्वामी जी द्वारा माने गये चारों मूल वेदों में नहीं, केवल कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा ६।१।७।२ में "निष्टर्क्य" पदमात्र (पूरा वाक्य नहीं) मिलता है। अतः पाणिनि के अनुसार कृष्ण यजुर्वेद शाखायें भी वेद हैं।

(११) पाणिनीय ३।१।७ सूत्र के भाष्य में "ऋषिः पठति श्रृणोत ग्रावाणः" वाक्य लिखा गया है। इससे और कैयट के अर्थ से यह ज्ञात होता है कि यह वेदवाक्य है। स्वामी जी की चारों मूल वेदसंहिताओं में ऐसा पाठ नहीं है। स्वामी जी के यजुर्वेद ६।२।६ में श्रोता ग्रावाणः पाठ मिलता है। यही पाठ काण्वशाखा में भी ६।३८ पर है। परन्तु भाष्यकार को "श्रृणोत ग्रावाणः पाठ अभीष्ट है और वह केवल तैत्तिरीय शाखा १।३।१३।१ में मिलता है। अतः महाभाष्यकार की दृष्टि में इस शाखा का वेद होना सुविदित है।

(१२) निरुक्त १।१५।६ में "ओषधे त्रायस्वैनम्" प्रतीक वेद मंत्र के नाम से लिखी गई है। इसी रूप में मीमांसा-भाष्य १।२।३५ पर भी यह मंत्र लिखा गया है। स्वामी जी के यजुर्वेद ४।१ में "ओषधे त्रायस्व" पाठ है। ऐसा ही पाठ काण्वशाखा ४।२ में है। परन्तु कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा १।२।२, काठकशाखा ३।२।६ और तैत्तिरीय शाखा १।२।१।१ में यास्काचार्य वाला ही पाठ है। अतः यास्क की दृष्टि में भी ये कृष्ण यजुर्वेद की शाखायों वेद हैं।

(१३) स्वामी जी ने भी आख्यातिक पृष्ठ ३९३ पर पाणिनीय सूत्र "भावलक्षणे तेसुन" (अष्टाध्यायी ३।४।१६) के वेदसम्बन्धी उदाहरण में "कामभाविजनितो: सम्भवाम:" मन्त्र भाग लिखा है। यह उनके चारों मूल वेदों में नहीं है। यह तैत्तिरीय शाखा २।५।१।५ में विद्यमान है। अत: पाणिनि की दृष्टि में यह शाखा वेद है।

(१४) पाणिनि का सूत्र "देवसुम्नयोर्यजुषि काठके" ७।४।३८ प्रकट करता है कि स्पष्ट शब्दों में उन्होंने काठक शाखा को वेद माना है।

(१५) निघण्टु को "छन्दोभ्य: छन्दोभ्य: समाहृत्य समाम्नाता:" पदों से वेद के पदों का संग्रह बतलाया है। उस में अनेक ऐसे पद हैं जो स्वामी जी की मानी गई वेदसंहिताओं में नहीं हैं। यथा निघण्टु १।२ में पठित काञ्चनम्, जातरूपम् (हिरण्य नाम) १।३ में पठित वियद्, आकाशम् (अन्तरिक्ष नाम), १।६ में "आशा:" (दिङ्नाम); १।७ में शोकी (रात्रिनाम); १।१० में बलिशान: बलाहक: (मेघनाम); १।११ में बेकुरा (वाङ्नाम); १।१२ में "नीरम्", तोयम्, जलम्, सणकम्, स्वृतीकम् (उदकनाम)— वर्तमान किसी संहिता में नहीं मिलते। इससे ज्ञात है कि यह संग्रह किन्हीं दूसरी शाखाओं से किया गया होगा जो इस समय अप्राप्त हैं। इससे भी शाखाओं का वेद होना सिद्ध होता है।

(१६) तैत्तिरीय आरणयक २।१६ में "स्वाध्यायं वेदमधीयीत" शब्दों में भी शाखाओं का वेद होना प्रतिपादित किया गया है। सायणाचार्य ने यहाँ पर "स्वाध्याय" शब्द का शाखा ही अर्थ माना है।

इनका इसी क्रम से समाधान निम्न प्रकार है—

समाधान

१—दयानन्द रहस्य के लेखक के इस कथन से महर्षि के माने सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। उन्होंने ११२७ शाखायें मानी हैं—इससे अधिक अथवा न्यून नहीं—यह सूर्य की भांति स्पष्ट है। महर्षि ने अपने सत्यार्थ प्रकाश ग्रन्थ के अन्त में "स्वमंतव्यामन्तव्य प्रकाश" लिखकर अपने मन्तव्यों को स्पष्ट कर दिया है। उसको देखने से इस विषय के आक्षेप अपने आप निर्मूल हो जाते हैं। महर्षि लिखते हैं–चारों "वेदों" (विद्या, धर्मयुक्त, ईश्वर-प्रणीत संहिता मंत्र भाग) को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूँ।···············और चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अङ्ग, छः उपाङ्ग चार उपवेद और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यान रूप········ग्रन्थ हैं उनको परतः प्रमाण········और जो इन में वेदविरुद्ध वचन हैं उन का अप्रमाण करता हूँ। स्वमंतव्यामन्तव्य प्रकाश २—वेद विषय।

यहाँ पर ऋषि ने अपने माने वेद का सुन्दर लक्षण भी कर दिया है। वेद वह है जो विद्या का भण्डार हो और धर्म से युक्त हो। यह बात चूँकि शाखा और वेदों के व्याख्यानों आदि में घटती है। अतः कहा ईश्वर-प्रणीत। वेद वह है जो विद्या और धर्म युक्त होते हुये ईश्वर प्रणीत है। शाखायें आदि ईश्वर प्रणीत नहीं हैं। पुनः स्पष्टीकरण के लिए लिखा संहिता। ब्राह्मण आदि से इसे और अधिक व्यावृत्त करने के लिए लिखा मंत्रभाग। अर्थात् जो विद्या-धर्मयुक्त, ईश्वरप्रणीत, संहिता मंत्रभाग है—वह वेद है। शाखाओं में यह लक्षण नहीं घटता अतः वे वेद नहीं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ११२७ शाखायें ऋषि ने मानी हैं।

यह तो स्वयं दयानन्द रहस्य के लेखक ने भी स्वीकार किया ही है।

सत्यार्थ प्रकाश में भी यह लिखा है। प्रश्न-वेदों की कितनी शाखा हैं ? उत्तर—ग्याहर सौ सत्ताईस। (सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास देखें)। रही बात नामिक में दिये गये महाभाष्य के प्रमाण की और उसके अर्थ की। उससे भी इस संख्या का कोई विरोध नहीं होता है। महाभाष्य के इस वाक्य में शब्द के प्रयोग के विस्तृत क्षेत्र का वर्णन है। इसी प्रसंग में साङ्ग, सरहस्य और बहु प्रकार से व्याख्यानत: शाखा रूप में भिन्न चार वेदों का वर्णन है[1]। उनको शाखायें, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण और वैद्यक आदि का वर्णन है। यहाँ पर महाभाष्यकार ने सामान्यतः अपने शब्दप्रयोग के विषय=क्षेत्र का वर्णन किया है। इससे शाखावों के वेद होने अथवा उनके ११३१ होने के निर्णय का कोई प्रसङ्ग नहीं है। यहाँ पर महर्षि ने "व्याख्यानयुक्त" शब्द का प्रयोग ठीक ही किया है। "साङ्गाः" का अर्थ अङ्ग के सहित है। है। परन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि अङ्ग वेद से भिन्न न होकर वेद के ही अन्तर और थोड़े से पाठ भेद के फेर फार हैं। इसी प्रकार "सरहस्याः" का भी यह अर्थ नहीं है कि रहस्य स्वतंत्र वस्तु न होकर वेद के ही पाठान्तर भाग हैं। फिर बहुधा "भिन्नाः" पद से शाखाओं को वेद से भिन्न वेद का व्याख्यान न मान कर केवल वेद का ही पाठान्तर मानना और वेद मानना

---

[1]चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधाभिन्नाः। एक शतमध्वर्यु-शाखाः। सहस्रवर्त्मा सामवेदः। एकविंशतिधा वाह्वृच्यम्। नवधा आथर्वणो वेदः। वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोग-विषयः। एतावन्तं शब्दप्रयोगविषयमननु-निशम्य सन्त्यप्रयुक्ता इतिवचनं केवलं साहसमात्रमेव। महाभाष्य १।१।१।

किस प्रकार बन सकता है। बहुधा में "धाच्" प्रत्यय है; जो संख्या और प्रकार अर्थ में ही होता है। अतः "बहुधाभिन्नाः" का अर्थ संख्या से भिन्न और प्रकार से भिन्न होगा। यदि यहाँ पर केवल थोड़े फेर फार से पाठान्तर से भिन्न केवल मंत्रों का इधर उधर पाठ ही अभिप्रेत है तो फिर भिन्नता क्या हुई और इसके लिखने की क्या आवश्यकता है। यह भेद तो सूक्त, काण्ड, अध्याय आदि के भेद से स्वयं सिद्ध है। अतः "साङ्गाः" "सरहस्याः" के अर्थ की समंजसता को दृष्टि में रखकर और "बहुधा" के भाव को देखकर "व्याख्यान" अर्थ यहाँ सर्वथा ठीक है। अर्थात् एक सौ एक व्याख्यान युक्त यजुः, हजार व्याख्यान युक्त साम, इक्कीस व्याख्यानयुक्त ऋक् और नव व्याख्यान युक्त अथर्ववेद—यह महर्षि का अर्थ समुचित और युक्तियुक्त है। यदि ऐसा मन्तव्य होता कि शाखायें भी वेद हैं तो फिर "चत्वारो वेदाः" का प्रयोग भाष्यकार न करता।

यदि यहाँ पर यह कहा जावे कि फिर तो ११३१ शाखायें बन जाती हैं—तो ठीक नहीं। क्योंकि चार वेद जिन की शाखायें बनाई गई, को इन से पृथक् करने पर ११२७ शाखायें ही रह जाती हैं। भाष्यकार ने वेद का चार होना तो लिख ही दिया है। यदि प्रश्न हो कि वे चार वेद फिर कौन से हैं; जिनकी ये शाखायें हैं—तो उत्तर होगा कि "अग्निमीळे पुरोहितम्०॥ से लेकर "यथा वः सुसहासति" तक मंत्रों वाला ऋग्वेद; "इषे त्वोर्ज्जेत्वा" से "ओ३म् खं ब्रह्म" तक मंत्रों से युक्त यजुर्वेद; "अग्न आ याहि वीतये" से "स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु" तक मंत्रों से युक्त सामवेद और "ये त्रिषप्ताः" से सर्वां इत्तां उपयाता पिबध्यै" तक मंत्रों से युक्त अथर्ववेद है। इस प्रकार स्वामी जी के सभी लेखों से वेदों के व्याख्यान-भूत ग्यारह सौ सत्ताईस शाखाओं के होने

को ही पुष्टि होती है। एक सौ सत्ताईस और ग्यारह सौ इकत्तीस को नहीं।

२—रामचन्द्र यक्ता का यह कहना कि ऋग्वेद की वर्तमान शाकल शाखा के अतिरिक्त कोई दूसरी शाखा अभी प्रसिद्ध नहीं हुई स्पष्ट प्रकट करता है कि वैदिक साहित्य के विषय में उनकी कुछ भी जानकारी नहीं है। ऋग्वेद की सांखायन शाखा भी प्राप्त है। श्री सी. जा. काशीकर ने पूना वैदिक संशोधन मण्डल से प्रकाशित सायण भाष्य सहित ऋग्वेद संहिता के चतुर्थ भाग के अन्त में लिखे हुए अपने प्रीफेस में यह स्वीकार किया है कि सांखायन शाखा प्राप्त है। वे लिखते हैं[१]—"चरण व्यूह के अनुसार ऋग्वेद की शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, सांखायन और मण्डूकायन—ये पाँच शाखायें हैं। इनमें से शाकल पाठ सर्वप्रसिद्ध है। दूसरे पाठों का कोई अधिक भेद इससे नहीं है—केवल थोड़े से परिवर्तन, परिवर्धन मंत्रों, सूक्तों और मंत्रों के क्रम में पाये जाते हैं।" पृष्ठ ८९१। पुनः वह श्री पं० सातवलेकर के संस्करण ऋग्वेद का संकेत करते हुए पृष्ठ ८९२ की टिप्पणी (फुटनोट) में लिखते हैं कि "उन्होंने[२] (पं०

---

[१] According to the Caran vyuha, the Rigveda has come down in five recensions—Sakala, Baskala, Asvalayana Sankhayana and Mandukayana. Of these Sakala recension is well known························The other recensions did not differ much from the Sakala recension.

etc. Page 891

[२] He has kindly lent me two Mss. Of Sankhayana Samhita of Rigveda which he must have used.

Page 892 Foot-note

सातवलेकर ने) मुझे दो हस्तलेख ऋग्वेद की सांखायन शाखा के दिये थे।'' पुनः इस अपने संस्करण को सामग्री का वर्णन करते हुए वे पृष्ठ ८९४ पर लिखते हैं कि ''पं० एस० डी० सातवलेकर[1] औंध ने मुझे सांखायन शाखा के दो हस्तलेख कृपा कर दिये थे और ये हस्तलेख जूनागढ़ से प्राप्त हुए थे और सम्वत् १७५४-५ के लिखे हुए थे और स्वरोच्चारण लाल रोशनाई से सम्वत् १७५५-८ में चिह्नित किये गये थे।

श्री काशीकर पुनः पृष्ठ ८९७ पर लिखते हैं कि[2] ''डाक्टर वी. एम. आपटे के द्वारा आश्वालायन मंत्र संहिता के दो हस्तलेखों के इण्डिया आफिस लायब्रेरी (नं० ३७८।१९७०) और नं० ३७९ (७८१) में विद्यमान होने का पता दिया गया है। इस शाखा में वे सभी ऋग्वेदीय मंत्र मिलते हैं; जो आश्वलायन गृह्य सूत्र और श्रौतसूत्र में प्रतीक से उद्धृत हैं।

---

[1] ....I have also used two Mss. Of Sankhayana shakha of Rigveda kindly lent to me by Pt. S. D. Satwalekar of Aundh. They come from Junagadha........ Junagadha Mss. Was written in Samvat 1754-5 and the accents were marked in red ink in Samvat 1755-8.

Page 894

[2] The two Mss of Asvalayane Mantra Samhita in the India office Library (Nos 378 [1970] and 379 [781]) have recently been described in detail by Dr V. M, Apte according to whom the work "Gives all the Rigveda Mantra cited by their Pratikas in the grhya and sraut of Asvalayana......Page 898 (Rigveda sanshodhan Madal edition of Rigveda Samhitar with sayanas Comecommentary Published in 1946.

N-B. See above quoted article of Dr. apte in "Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute Poona. 1938-39 Vol. XX.

इसी प्रकार श्री डाक्टर रघुवीर जी द्वारा यजुर्वेद की कपिष्ठल शाखा भी प्रकाशित हो चुकी है। इसका हस्तलेख गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज (वर्तमान संस्कृत विश्वविद्यालय) बनारस के सरस्वती भवन रिसर्च इन्स्टीट्यूट में भी विद्यमान है। यक्ता की पुस्तक सन् ५० में तैयार हो गई थी। ये शाखायें उससे कई वर्ष पूर्व प्राप्त और प्रसिद्ध हो चुकीं फिर भी उनको इनका परिज्ञान नहीं। वास्तविकता से बिना परिचित हुए कुछ का कुछ लिखना समझ का कार्य नहीं हैं।

इन शाखाओं को देखने से ये मूल वेद की व्याख्या नहीं सिद्ध होतीं, यह भी सर्वथा प्रमाण-हीन औरमनः कल्पित बात है। इन शाखाओं में मूल मंत्रों की व्याख्या भी पायी जाती है और इनमें मूलवेदों के मंत्रों मण्डलों तक की प्रतीकें पायी जाती हैं। साथ ही अमुक ऋषि ने इन मण्डल आदि को देखा—यह भी वर्णित मिलता है।

तैत्तिरीय शाखा १।५।४ पर "भूमिर्भूम्ना"[1] जो कि यजुर्वेद मूल संहिता ३।५ में "द्यौरिवभूम्ना" इत्यादि मंत्रों को काद्रवेय कसर्णीर ने देखा लिखा है। इसके आगे मंत्रों की व्याख्या के आधार पर यज्ञकी विनियोगात्मक प्रक्रिया का वर्णन है। तैत्तिरीय शाखा[2] २।६।८में यज्ञ सम्बन्धी अर्थ का वर्णन करते हुए पूषाके भाव को बतला कर यह लिखा गया है कि पूषा ने 'सूर्यस्य त्वा चक्षुषा प्रति पश्यामि—मंत्र को देखा। मंत्र मूल में "सूर्यस्य त्वा "चक्षुषा

---

[1] स एतं (भूमिर्भूम्ना) कसर्णीरः काद्रवेयोऽमंत्रमपश्यत्
तैत्तिरीय शाखा १।५।४

[2] स (पूषा) एतं मन्त्रमपश्यत्—सूर्यस्य त्वा चक्षुषा प्रतिपश्यामीत्यब्रवीत् ॥ तैत्तिरीय शाखा २।६।८। सातवलेकर संस्करण

प्रतीक्षे"—है। उसकी क्रिया व्याख्यान रूप में "प्रतिपश्यामि" यहां पर दी गई है। पुनः तैत्तिरीय शाखा ५।२।१ में लिखा है[1] कि अजीगर्त्त के पुत्र शुनःशेप को वरुण ने पकड़ लिया। उसने इस वरुण सम्बन्धी ऋचा को देखा।

काठक शाखा १०।५ में लिखा है कि वामदेव ने "कृणुष्व[2] पाजः प्रसितिं न पृथ्वीम्" वाले सूक्त को देखा। पुनः काठक १६।१०[3] में ऐसा लिखा है कि उन देवों ने "या सेना अभित्वरी" आदि ऋचाओं को देखा। यह कल्पना वस्तुतः इन मंत्रों के यज्ञार्थ को समझाने के लिये है। इसी प्रकार मैत्रायणी १।४।५।३४[4] में आया है कि यज्ञ ही भृगु है। यज्ञ का ही यह दोह है। इस यज्ञ को जलावो—ऐसा भौवायन कपिवन ने कहा। पुनः मैत्रायणी[5] १।४।१२।६१ पर ऐसा वर्णन मिलता है कि वसिष्ठ ने प्रायश्चित्ति को जाना। मैत्रायणी[6] ४।८।४।७ में यह वर्णन मिलता है कि विश्वामित्र ने यज्ञ के आणियों को देखा। वहीं पर लिखा है कि

---

[1] शुनः शेपमाजीगर्त्तिं वरुणोऽगृह्णात्—
स एतां वारुणीमपश्यत् ॥ तैत्तिरीय शाखा ५।२।१

[2] स (वामदेवः) एतं सूक्तमपश्यत् कृणुष्वपाजः प्रसितिं न पृथ्वीमिति। काठक १०।५

[3] यास्सेना अभित्वरीरिति……देवा एता ऋचोऽपश्यन् ॥
काठक १६।१०

[4] यज्ञो भृगुरिति यज्ञस्य वा एष दोहो यज्ञमेत्तद्दह। एतद्ध स्म वा आह कपिवनो भौवायनः। मैत्रायणी १।४।५।३४

[5] वसिष्ठ एव प्रायश्चि विदाञ्चकार। मैत्रायणी १।४।१२।६१

[6] एतौ वै विश्वामित्रो यज्ञस्याणी अपश्यत्। मैत्रायणी ४।८।४।७

भरद्वाज[1] ने ऐसा कहा। पुनः ४।८।७।१४[2] पर लिखा है कि ऐसा वासिष्ठ सातहव्य ने कहा। इसी प्रकार मैत्रायणी शाखा १।६।५।४६ में केशो सत्यकामि और केशी दार्म्य; १।५।९; ३।६।४; ३।७।४; ३।१०।५ में आरुण औपवेशि, १।४।१२।६० में केशी और षण्डिक ओद्धारि, १।५।८ में नारद आदि का वर्णन है।

तैत्तिरीय ३।१।१।२ में मंत्रों की व्याख्या इस प्रकार मिलती है। "बृहस्पतिः पुर एता ते अस्तु" से कहा गया है कि ब्रह्म ही देवों का बृहस्पति है। वही इसका पार लगाता है। "अगन्म देवयजनं पृथिव्याः" का अर्थ यह है कि इस पृथिवी के देवयजन को वह प्राप्त होता है; जो यज्ञ करता है (अगन्म देवयजनं पृथिव्या इत्याह देवयजनं ह्येष पृथिव्या आगच्छति यो यजते); "विश्वे देवा यदजुषन्त पूर्वे" जो कहा गया है वह इसलिए कि यह देव लोग जोषण करते हैं जो ब्राह्मण हैं (ह्येतद्देवा जोषयन्ते यद्ब्राह्मणाः); "ऋक्सामाभ्यां यजुषा सन्ततरन्तः" जो कहा गया है वह इसलिए कि ऋक्, साम और यजुः से वह तर जाता है जो यज्ञ करता है (ऋक्सामाभ्यांह्येष यजुषा सन्तरति यो यजते) "रायस्पोषेण समिषा मदेम" इसलिए कहा गया है कि आशीर्वाद का कथन है (आशिषमेवेतामाशास्ते) क्या यह व्याख्या नहीं है।

तैत्तिरीय शाखा ३।१।८।९ में[3] मनु का पुत्रों को दायभाग देना वर्णित है। नाभा नेदिष्ठ जो उसका पुत्र उस समय गुरुकुल

---

[1] इति ह स्म आह भरद्वाजः। मैत्रायणी ४।८।४।७

[2] एतद्ध स्म वा आह वासिष्ठः सातहव्यः। मैत्रायणी ४।८।७।१४

[3] मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत स नाभानेदिष्ठं ब्रह्मचर्यं चरन्त निरभजत०॥ तैत्तिरीय शाखा ३।१।८।९

में ब्रह्मचारी था उसने आकर कहा कि मुझे दायभाग न देकर आपने सबको बाँट दिया। मनु ने कहा कि "आंगिरस लोग सत्र कर रहे हैं। वे स्वर्ग को नहीं जानते हैं, उनके लिए यह मंत्र समूह तुम बतलावो।" ऋ यहाँ पर यह संकेत ऋग्वेद के १० वें मण्डल के उन सूक्तों का है जो मनु ने नाभानेदिष्ठ को दायभाग में दिये थे। इस वर्णन से स्पष्ट है कि यह शाखा वेद नहीं व्याख्यान ही है।

तैत्तिरीय शाखा ५।२।१।३[1] में "अन्नपते अन्नस्य नो देहि" मंत्र को व्याख्या है। वहाँ पर मंत्र में आये हुए "अनमीवस्य" पद का अर्थ "अयक्ष्मस्य" किया गया है। तैत्तिरीय शाखा[2] ५।२।६।७ में "ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्" मंत्र की व्याख्या है। तैत्तिरोय शाखा ५।४।१।३[3] में "रुद्र एष ते भाग:" की व्याख्या की गई है और तो और तैत्तिरीय शाखा ४।६।१।२ से ४।६।२।२ पर्यन्त "इमा विश्वा० । से लेकर "नदोनां सर्वासां पित्रे० पदों पर्यन्त १७ मंत्र दिये गये हैं। इनमें लगभग अधिक मंत्रों में पर्याय-वाची पद रखे गये हैं। जिससे इनका मूल मंत्रों का व्याख्यान होना सिद्ध है।

तैत्तिरीय शाखा[4] में "आप्यायस्व सं ते"; "उदुत्यं चित्रम्"

---

[1]अनमीवस्य शुष्मिण इत्याहायक्ष्मस्येति। तैत्तिरीय शाखा ५।२।१।३

[2]ब्रह्मजज्ञानमित्याह तस्माद्ब्राह्मणो मुख्य:।
तैत्तिरीय शाखा ५।२।१।३

[3]रुद्रो वा एष यदग्नि:.........यथा वत्सो जात: स्तनं प्रेप्सत्येवं वा एष एतर्हि भागं प्रेप्सति।। तैत्तिरीय।५।४।१।३

[4]देखें तैत्तिरीय शाखा की भूमिका पृष्ठ ३० सातवलेकर संस्करण सन् १९४५

"त्वन्नो अग्ने, स त्वं नो अग्ने", इमं में वरुण, तत्त्वायामि" आदि शतशः प्रतीकें स्थल-स्थल पर पायी जाती हैं।

तैत्तिरीय शाखा[1] ३।४।३।५ में अथर्व वेद के ५।२४।१-१७ अभ्यातान मंत्रों की प्रतीकं दी गई हैं। ये "अभ्यातान" क्यों हैं— इसकी व्याख्या भी आगे ३।४।३।६ में कर दी गई है।

व्याख्या की परिभाषा केवल विस्तृत भाष्य ही नहीं है। निम्न प्रकारों से भी मंत्र की व्याख्या हो जाती है और भाव खुल जाते हैं—

१—मंत्रों के पदों को पृथक्-पृथक् करने से।

२—अनादिष्ट देवता वाले मंत्रों का देवता निश्चित कर देने से।

३—मंत्र से यज्ञ क्रिया का विनियोग कर देने से।

४—मंत्रस्थ पद का पर्यायवाची पद रख देने और तदनुसार स्थिति बना देने से।

५—मंत्र का कोई पद लेकर विनियोग आदि के आधार पर कल्पित आख्यान से।

६—मंत्रस्थ किसी पद अथवा देवतापद की यौगिक व्याख्या अथवा निरुक्ति कर देने से।

७—मंत्रों को किसी निश्चित अर्थ में क्रमबद्ध कर देने से।

इनमें से अनेक वस्तुयं शाखाओं में पायी जाती हैं। ब्राह्मणों में सभी पायी जाती हैं—अतः ये व्याख्यान हैं—मूल वेद नहीं।

---

[1] अग्निर्भूता नामधिपतिः······इन्द्रोज्येष्ठानां यमः पृथिव्या-इत्यादि- तै० ३।४।३।५

(३) श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी और हरिप्रसाद यदि किसी विषय को न जान सकें और न सिद्ध कर सकें तो वह विषय हो असिद्ध और अग्राह्य हैं—यह प्रमाणसिद्ध बात और सच्ची युक्ति नहीं है। क्या वक्ता जी पं० सत्यव्रत जी की बातों को सर्वतः प्रमाण मानते हैं ? पं० सत्यव्रत जी ने तो ब्राह्मणों को[1] वेद का व्याख्यान माना है और शाखाओं के विषय में पुराणों की बताई हुई प्रक्रिया को अस्वीकार किया है—क्या वक्ता जी इन्हें स्वीकार करते हैं ? श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने महर्षि का उपहास किया है—इस आपके कथन से और सामश्रमी के उपहास से भी महर्षि का उपहास नहीं हो सकेगा। सूर्य पर थूकने वाले की जो अवस्था होती है वही ऐसा उपहास करने वालों की भी। पं० सामश्रमी ने तो स्वामी जी के काशी शास्त्रार्थ; (जिसको आपने [वक्ता ने] अपने ग्रन्थ में महत्वहीन समझा है) के महत्त्व को समझते हुये उस में मध्यस्थ न होते हुये भी (क्योंकि उस समय ये एक विद्यार्थी थे) अपने को मध्यस्थ कहकर अपनी विद्वत्ता को चमकाने का प्रयत्न किया[2] है। यदि महर्षि दयानन्द उपहास के विषय उनकी

---

[1]देखें उनका ऐतरेयालोचन—ततश्च विध्यर्थवादाख्यानपूर्वक मादिमं मन्त्रभाष्यं ब्राह्मणमित्येव पर्यवस्यते ब्राह्मणलक्षणम् ॥ ऐतरेयालोचन पृ० ११ सम्वत् १९६३। सारा प्रकरण देखने योग्य है।

[2]काश्यानन्दोद्यानविचारे यत्र वयमास्म मध्यस्थाः। ऐतरेयालोचन पृ० १२७

तथा—"माध्यस्थ्यं येन काश्यां कृतमुभयमतं श्रीदयानन्दवादे।
निरुक्तालोचन की "प्रकाशकोक्ति" में
हित व्रत कृत श्लोक खण्ड। सन् १९०७

दृष्टि में हैं तो फिर दयानन्द के शास्त्रार्थ का मध्यस्थ बनना क्या महत्त्व रखता है। परन्तु महर्षि दयानन्द का शास्त्रार्थ इतना महान् शास्त्रार्थ था कि सामश्रमी जी अपने को उसका मध्यस्थ बताकर गौरव का अनुभव करते हैं। यद्यपि उनके मध्यस्थ होने की बात सर्वथा झूठी है।

जैसा ऊपर लिख चुका हूँ यदि पं० सत्यव्रत सामश्रमी ओर पं० हरिप्रसाद स्वामी उस विषय को न जानें और न सिद्ध कर सकें तो भी विषय असिद्ध नहीं हो सकता है। विषय तर्क, प्रमाण आदि से सिद्ध होता है किसी के मानने अथवा न मानने मात्र से नहीं। किसी ने महर्षि यास्क से प्रश्न उठाया कि पदों से पदों के अर्थ को निकाल कर शाकटायन[1] ने "सत्यम्" (स+ति+यम्) की सिद्धि की है। यास्क ने उत्तर दिया कि यदि कोई ऐसा सिद्ध न कर सके तो उसकी निन्दा है—शास्त्र की निन्दा नहीं। क्योंकि शास्त्र से तो ऐसे शब्द बनाये जाते हैं। यही स्थिति यहाँ पर भी समझनी चाहिये। यदि पं० सत्यव्रत स्वामी जी के मंतव्य को न समझ सकें और पं० हरिप्रसाद उसे न सिद्ध कर सकें तो उनकी अपनी कमी है। इससे स्वामी जी महाराज का उपहास होना और शाखाओं का वेद व्याख्यान न होना सिद्ध नहीं होता है।

(४) "इषे त्वार्जे" इत्यादि प्रतीकें देकर व्याख्यान करने की तैत्तिरीय शाखा में गन्ध तक नहीं आती—यह उस शाखा को बिना देखे और समझे केवल मनमानी गप्प मारने की बात है।

---

[1]यथो एतत्पदेभ्यः पदेतराद्धन्सिञ्चस्कारेति यो ऽनान्वितेऽर्थे सञ्चस्कार स तेन गर्ह्यः, सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा इति।

निरुक्त १।१४

तैत्तिरीय शाखा ६।३।६।६ में "इषे त्वेति" बर्हिरादत्त, प्रतीक देकर बर्हि का आदान दिखलाया गया है; जो यज्ञप्रक्रिया में मंत्र के विनियोग की व्याख्या है। तैत्तिरीय शाखा १।१।१।१ में वायवःस्थ के साथ पायवःस्थ; "अघ्न्या इन्द्राय भागम्" के साथ "अघ्निया देवभागम्"; "प्रजावतीः" को स्पष्ट करने के लिए "ऊर्जस्वतीः पयस्वतीः विशेषण, लगा दिये गये हैं। मैत्रायणी १।१।१।१ में 'अघ्न्या' के साथ "देवेभ्या" पाठ है। काठक १।१ में "वायवस्थ" के साथ पायवस्थ "पाठ है। "इन्द्राय भागम्" के स्थान में "देवभागम्" और "यजमानस्य पशून् पाहि" पाठ को देकर भी "यजमानस्य पशुपा असि" पाठ जोड़ दिया गया है। यह मूल पाठ के अर्थ का ज्ञापक है। इस प्रसंग के दूसरे आक्षेप का समाधान करते हुये पर्याप्त लिखा गया है। उसे देख लेना चाहिए।

यह भी अर्थहीन बात है कि प्रतीक देकर व्याख्यान करने से शाखायें वेद का व्याख्यान नहीं बन सकती हैं क्योंकि स्वामी जी के माने यजुर्वेद ३२।३ मंत्र में भी मंत्रों की प्रतीकें दी गई हैं। यजुर्वेद ३२।३ में प्रतीक नहीं है। वह पूरा एक ही मंत्र है। महर्षि दयानन्द ने इस मंत्र का अर्थ करते समय पूरे को एक ही मंत्र माना है और वैसी ही व्याख्या भी की है। पक्षान्तर में "यद्वा पक्षान्तरम्" कह कर दूसरी बात भी दे दी है। परन्तु यह दूसरा पक्ष उन्हें मन्तव्य है—यह नहीं लिखा है। यह केवल पक्षान्तर दर्शनमात्र से तात्पर्य रखता है। इस बात की पुष्टि के लिए महर्षि का यजुर्वेद १३ वें अध्याय के १० और ३१ वें मंत्र का भाष्य देखना चाहिए। महीधर आदि ने इन मंत्रों के अन्त में "लोकं ता इन्द्रम्" पाठ अधिक लिखे हैं तथा इसी अध्याय के २२ वें मन्त्र में आये इषे त्वोर्ज्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा—के

आगे भी "लोकं ता इन्द्रम्" अधिक पाठ माना है। महर्षि दयानन्द ने इन अधिक पाठों को प्रतीक माना है और छोड़ दिया है। इन्हें मंत्र में भी नहीं रखा है। यजुर्वेद १३।५८ मंत्र में भी यह "लोकन्ता इन्द्रम्" अधिक पाठ महीधर आदि ने लिखा है। परन्तु महर्षि ने इसे स्वीकार नहीं किया है। इस स्थल पर वे लिखते हैं कि[1] "लोकन्ता इन्द्रम्" ऐसी बारहवें अध्याय की तीन मंत्रों की प्रतीकें सूत्र (कात्यायन सूत्र) के व्याख्यान को देखकर किसी ने रख दी हैं। परन्तु शतपथ में इनका व्याख्यान न होने से यहाँ पर इन्हें ग्रहण नहीं किया जाता है। यहाँ पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मंत्रों में प्रतीक को स्वीकार नहीं करते फिर ३२।३ पर वे प्रतीक किस प्रकार स्वीकार करेंगे। इसी प्रकार यजुर्वेद ३३/२७ मंत्र में मूलमंत्र उन्होंने कुतस्त्वमिन्द्र...... यत्त अस्मे" तक को ही माना है और इतने का ही भाष्य भी किया है। महीधर आदि ने इसके आगे "महाँ इन्द्रो य ओजसा। कदाचनस्तरीरसि कदाचन प्रयुच्छसि" पाठ अधिक लिखा है। इस पर फुटनोट में टिप्पणी देते हुये महर्षि लिखते हैं "इस मंत्र के आगे महा०, कदा०, कदा—ये तीन प्रतीकें पूर्व अ० ७।४०, अ० ८।२-३ में कहे तीन मंत्रों की किसी ने कर्मकाण्ड विशेष के लिए लिखी हैं—इसी से इनका अर्थ यहाँ नहीं किया—उक्त ठिकाने से जानना चाहिए। "यक्ता" के आचार्य महीधर आदि को तो इसका पता भी नहीं चला। अस्तु ! मंत्रों की प्रतीकें यजुर्वेद के मंत्रों में हैं—यह कथन ठीक नहीं। महीधर आदि ने अपने माने

---

[1]अत्र लोकन्ता इन्द्रमिति द्वादशाध्यायस्थानां त्रयाणां मन्त्राणां प्रतीकानि सूत्रव्याख्यानं दृष्ट्वा केनचिद्धृतानि शतपथेऽव्याख्यातत्वादत्र न गृह्यन्ते। दयानन्दभाष्य १३।५८

ढंग से ये प्रतीकें रख ली हैं जो ठीक नहीं है। यदि ऐसी ही अटकल-पच्चू मारनी है तो कोई यजुर्वेद १०।१० में आये "इषे त्वोर्जे त्वा" को भी प्रतीक कह सकता है परन्तु यह सर्वथा ही विरुद्ध है।

यदि दुर्जनतोषन्याय से प्रतीकों का होना मान भी लिया जावे तब भी शाखाओं में यजुर्वेद संहिता नहीं आ सकती है। कारण यह है कि प्रतीक तो उसकी अपने मंत्रों की ही ठहरेगी। शाखाओं की जब कोई प्रतीक दी जाती है तो वह दूसरे वेद की भी होती है। साथ हो "इषे त्वोर्जेति वर्हिरादत्ते "अथवा ऋक्-सामाभ्यां यजुषा सन्तरन्त इत्याह" इस प्रकार की प्रतीकें दी हुई होती हैं और अर्थ दिया होता है। यजुर्वेदसंहिता की कथित प्रतीक इस प्रकार की नहीं है।

५—महर्षि के कथन का यह अभिप्राय नहीं कि इन पर ईश्वर का नाम लिखा हुआ है। उनके कहने का तात्पर्य इतना ही है कि ये किसी ऋषि की कृति नहीं हैं। इन्हें सर्वत्र नित्य और ईश्वरीय ज्ञान माना गया है। जो लोग इन्हें शाकल आदि के नामों से लिखते हैं वे गलत लिखते हैं। यह पौराणिकी धारणा अथवा पाश्चात्य भावना का परिणाम है। इन पर बहुधा किसी ऋषि का नाम नहीं लिखा हो पाया जाता है। भिन्न स्थानों से छपे संस्करणों को देखने से यही पुष्ट होता है। परन्तु शाखाओं के लिये यह बात नहीं है। वेद की नित्यता का प्रसंग से वर्णन आगे किया जावेगा अतः यहाँ पर विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

६—दयानन्दरहस्य के लेखक की यह उक्ति कि "भ्रातृव्यस्य बधाय "द्विषतो बधाय" आदि व्याख्यान नहीं सर्वथा हो गलत

है। इस ग्रन्थ के लेखक ने श्रीमान् पं० भगवद्दत्त जी और महर्षि पर जो आक्षेप किये हैं और जिन शब्दों का प्रयोग किया है वे वस्तुतः सभ्यता और शिष्टता की सीमा से बहुत परे हैं। लेखक को इतने तक का तो पता नहीं है कि शुद्ध शब्द वाङ्मय है या वाङ्ग्मय है और खण्डन करने चला है अनुसंधान के निकाले हुए परिणाम और शास्त्रीय विषय का।

"भ्रातृव्यस्य बधाय" पाठ मूल यजुर्वेद में १।१८ स्थल पर मिलता है। काण्व शाखा के प्रथम अध्याय के दूसरे, तीसरे और चतुर्थ मंत्र में 'द्विषतो बधाय' पाठ है। यहाँ पर यह स्पष्ट भासित हो जाता है कि मूलपाठ में अधिक क्लिष्टता है, अतः उसका सरलीकरण "द्विषतो बधाय" करके कर दिया गया है। मूल यजुर्वेद में "देवो वः सविता प्रतिगृभ्णातु पाठ है। देखें यजुर्वेद १।२०। परन्तु काण्वशाखा का पाठ १।५(७) पर "देवो वः सविता प्रतिगृह्णातु" है। जो लोग व्याकरण को जानते हैं उन्हें परिज्ञात है कि "हृग्रहोश्छन्दसि हस्य भत्वम्" वार्त्तिक के आधार पर ग्रह् धातु के हकार को भकार होने का छन्द में नियम है। यह नियम सामान्यतः काण्वशाखा पर भी प्राप्त था, क्योंकि पाणिनि नय में छन्दः से दोनों का ग्रहण हो जाता है। (छन्दः की बात बाद में लिखेंगे। अष्टाध्यायी सम्बन्धी आक्षेपों का उत्तर देते हुये—यहाँ सामान्य वर्णन कर दिया है)। फिर भी काण्व शाखा ने गृह्णातु पाठ लिखकर साधारण प्रयोग की स्थिति को सूचित किया है और यह 'गृभ्णातु' का अर्थ है।

मूल यजुर्वेद का पाठ "एष वो अमी राजा (यजुः ९।४० तथा १०। १८) और काण्व का पाठ एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला

राजा" (काण्व ११।११) है। तैत्तिरीय शाखा का पाठ (१।८। १०।१२) "एष वो भरता राजा" है। काठक १५।७।१४ में "एष ते जनते राजा" पाठ है। मैत्रायणी २।६।९ में भी "एष ते जनते राजा" पाठ है। इन सभी पाठों को देखने से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि "अमी" पद जो मूल संहिता में सर्वनाम पद है उसके अर्थ पर इन सभी शाखाओं में भौगोलिक छाप है। जिस शाखा का प्रचलन जिस प्रदेश में था उसी के अनुसार उसने "अमी" का अर्थ किया और उससे पंचाल, भरत, कुरु और जनतंत्र अर्थ निकाले। ये स्पष्ट हो इस बात को सिद्ध कर देते हैं कि शाखायें वेद के व्याख्यान हैं। जब तक इस विषय को न समझा जावे और शास्त्रों के गूढ़ रहस्य में पहुँचने की शक्ति न हो श्री पं० भगवद्दत्त जी को कोसने का कोई तात्पर्य नहीं।

अथर्व १८।२।३५ में प्रयुक्त "अग्निदग्धाः" पद ऋग्वेद १०। १५।११ में प्रयुक्त और यजुर्वेद में प्रयुक्त "अग्निष्वात्ताः" का अर्थ नहीं है। दोनों पृथक् पद हैं और दोनों का अर्थ भी पृथक् है। ऋग्वेद १०।१५।११ पर "अग्निष्वात्ताः" पद का प्रयोग है। यह पद यजुर्वेद १९।५८; १९।५९, १९।६०, १९।६१; तथा यजुर्वेद २१ वें अध्याय के ४३ वें ४४ वें ४५ वें और २४।१८ में विभक्ति भेद के साथ प्रयुक्त है। "अग्निष्वात्ताः" का अर्थ है अग्नि-विद्या को जानने वाले वैज्ञानिक। अन्य भी अनेक अर्थ प्रकरण के अनुसार इस पद के होते हैं। अग्निः सुष्ठुरूपेण आत्तः गृहीतो यैस्ते अग्निष्वात्ताः अर्थात् अग्नि को भली प्रकार जाना और ग्रहण किया है जिन्होंने; वे अग्निष्वात्त हैं। अग्नि से गृहीत होता है अन्न जिनका वे भी अग्निष्वात्त हैं। जिनकी जाठराग्नि तीव्र है वे भी अग्निष्वात्त हैं। अग्नि के वैदिक साहित्य में अनेक अर्थ हैं। उसी

के अनुसार अनेक अर्थ इस पद के भी होंगे । तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] १।६।९।६ और १।६।८।३[2] पर लिखा गया है कि "जो अयाज्ञिक गृहस्थ हैं वे अग्निष्वात्त हैं और अर्धमास भी अग्निष्वात्त हैं ।। शतपथ २।६।१।७[3] के अनुसार याज्ञिक और तपस्वी अग्निष्वात्त ठहरते हैं ।

अथर्ववेद १८।२।३५ में "अग्निदग्धाः" पद पढ़ा गया है । यह ऋग्वेद अथवा यजुर्वेद में पढ़े गये "अग्निष्वात्ताः" का अर्थ नहीं है । अग्नि को प्रज्वलित कर यज्ञ करने वाले अग्निदग्ध हैं। अग्निर्दग्धो यज्ञेषु यैस्तेऽग्निदग्धाः । अथर्व के इसी मन्त्र में "अनग्निदग्धाः" पद भी पड़ा है । "अग्निदग्धाः" पद "अग्निष्वात्ताः" का अर्थ इस लिये भी नहीं हो सकता है कि ऋग्वेद १०।१५।११ में जहाँ "अग्निष्वात्ताः" पद का प्रयोग पाया जाता है वहाँ उसी के आगे १०।१५।१४ में "अग्निदग्धाः' पद भी पाया जाता है । इसी प्रकार अथर्व १८।२।३५ में जहाँ "अग्निदग्धाः" पद पाया जाता है वहाँ उसी के आगे १८।३।४४ में "अग्निष्वात्ताः" पद भी पाया जाता है । अतः दयानन्द रहस्य के लेखक की इस सम्बन्धो सारी ही कल्पना रेत की उस नोंव पर खड़ी है जो गिर कर अपने हो नहीं नष्ट होगी बल्कि उसके आश्रितों को भो दबा देगी । यह तर्क शाखाओं में दिये गये व्याख्यावाचक पदों को मूल संहिता पद सिद्ध करने में सर्वथा ही असहाय है ।

७—पैप्पलाद शाखा मूल वेद है—इसके लिए दयानन्द रहस्य के कर्त्ता का दिया हुआ हेतु कृतकार्य नहीं है । पाणिनि और

---

[1] य वा अयज्वानो गृहमेधिनः ते पितरोऽग्निष्वात्ताः ।। तै० १।६।९।६।

[2] अर्धमासा वै पितरोऽग्निष्वात्ताः । तै० १।६।८।३।

[3] यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः ।
शतपथ २।६।१।७

महाभाष्यकार की परिभाषाओं को बिना समझे हुये ही इस प्रकार की बातें कोई लिख सकता है। महाभाष्यकार इस स्थल पर शब्दानुशासन का वर्णन कर रहा[1] है। किन शब्दों का अनुशासन अधिकृत किया समझा जावे इस पर वह उत्तर देता है—लौकिक और वैदिक शब्दों का। ये लौकिक और वैदिक शब्द कौन से हैं—इसको समझाने के लिए भाष्यकार ने लिखा है कि लौकिक शब्द "गौः," "अश्वः," "पुरुषः", हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मण इत्यादि हैं और वैदिक शब्द—"शन्नोदेवीरभिष्टये" "इषे त्वोर्जेत्वा" "अग्निमीढे पुरोहितम्" अग्न आयाहि वीतये—हैं। यहाँ पर प्रसङ्ग वस्तुतः लौकिक और वैदिक शब्दों का है, मूलसंहिता और शाखा के मंत्रों के निर्णय का नहीं। वैदिक शब्दों में शाखाओं और संहिताओं दोनों के ही पद आते हैं। अतः भाष्यकार ने जहाँ तीन आदि मंत्र मूल संहिताओं के दिये वहाँ पर "शन्नोदेवीरभिष्टये" शाखापठित आदि मंत्र दे दिया। पैप्पलाद शाखा के आदि का पन्ना नष्ट है। परन्तु यह शन्नोदेवीरभिष्टये मंत्र पैप्पलाद शाखा का है—यह विद्वानों का मत है। भाष्यकार के इस लेख से पैप्पलाद शाखा का मूल अथर्ववेद होना किसी भी अवस्था में सिद्ध नहीं होता है। इससे यह भी सिद्ध नहीं होता कि "ये त्रिषप्ताः" अथर्व वेद का आदि मंत्र नहीं है। अनुक्रमणियों और भाष्यकर्त्ताओं के भाष्यों से यही प्रथम मंत्र ज्ञात होता है। यदि कोई यह सिद्ध कर दे कि

[1]शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्। केषां शब्दानाम् लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावद्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति ।। वैदिकाः खल्वपि शन्नो देवीरभिष्टये इषे त्वोर्जे त्वा। अग्निमीढे पुरोहितम्। अग्न आयाहि वीतय इति। महाभाष्य १।१।१।

शाखा में पठित शब्द महाभाष्य की परिभाषा में वैदिक शब्दों में नहीं आते हैं तब तो दयानन्द रहस्य के लेखक को ऐसा कहने का तनिक अवसर हो सकता था—अन्यथा—तो व्यर्थ का ही यह कथन है। महाभाष्यकार ने यहाँ वर्णन में कोई क्रम भी नहीं रखा है। उसके अनुसार तो प्रथम अथर्ववेद है—यह भी कोई कह सकता है। परन्तु सभी विद्वान् यह समझते हैं कि क्रम ऋक्, यजुः, साम और अथर्व है, अथर्व यजु, ऋक् और साम नहीं। जिस प्रकार महाभाष्य में कहे क्रम से वेदों के क्रम का निर्णय नहीं किया जाता है उसी प्रकार चारों वेद मंत्रों के चारों मूल संहिताओं के आदि मंत्र होने का निर्णय भी नहीं किया जा सकता है। तीन मंत्र तीन वेदों के आदि मंत्र हैं और "शन्नोदेवी" पैप्पलाद शाखा का आदि मंत्र है।

एक बात यहाँ पर और भी उठती है। वह यह कि "इषे-त्वोर्जे" मंत्र के ही यजुर्वेद के प्रथम मंत्र होने की स्थिति पायी जाती है। उसके अनन्तर "अग्निमीढे पुरोहितम्" को यह स्थिति प्राप्त है। परन्तु यह मंत्र तैत्तिरीय शाखा ४।३।१३ में भी पाया जाता है। अतः इस शाखा में यह आदि का मंत्र नहीं है। ऐसी स्थिति में "इषे त्वोर्जे" की भांति सर्वथा आदिम मंत्र होने की स्थिति इसकी भी नहीं रहती है। "शन्नोदेवीः" और "अग्न आयाहि वीतये" की ऐसी स्थिति नहीं कि वे सर्वथा आदिम मंत्र ही कहे जा सकें। सामवेद की मूल संहिता में "अग्न आयाहि वीतये" आदिम मंत्र है और उसकी जैमिनीय शाखा में भी। परन्तु यह मंत्र ऋग्वेद ६।१६।१० और तैत्तिरीय शाखा २।५।७।३ में भी पाया जाता है। इसी प्रकार "शन्नोदेवीः" मंत्र ऋग्वेद १०।९।४, अथर्व १।६।१, यजु ३६।१२ और साम (श्री सात वलेकर प्रकाशित) के

३३ अङ्क पर मिलता है। ऐसी अवस्था में महाभाष्यकार ने इन सबको चारों मूलसंहिताओं का आदिम मंत्र समझ कर ही अपने भाष्य में स्थान दिया हो—यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। हो सकता है वैदिक शब्दों के वर्णन मात्र के लिए इन मंत्रों का उल्लेख कर दिया हो भले ही ये वेद की संहिताओं और शाखाओं में कहीं पर भी उद्धृत रहे हों।

इन्हें आदिम मंत्र मानने पर भी "शन्नोदेवी:"को मूल अथर्ववेद संहिता का प्रथम मंत्र अथवा पैप्पलाद शाखा को ही मूल अथर्व वेद संहिता स्वीकार करने का कोई प्रसंग नहीं उठता। "अग्निमीढे पुरोहितम्" ऋग्वेद मूल संहिता और उसकी समस्त उपलब्ध शाखाओं में आदि मंत्र पाया जाता है। "इषे त्वोर्जे त्वा" मूल यजुर्वेद और उसकी समस्त उपलब्धं शाखाओं में आदिम मंत्र पाया जाता है। 'अग्न आयाहि वीतये' की भी उसकी शाखाओं में आदि मंत्र को ही स्थिति है। केवल अथर्ववेद के मूल और उसकी शाखा में अन्तर है। चूँकि भाष्यकार को वैदिक शब्दों का वर्णन करना था, यदि वह "ये त्रिषप्ता:" पाठ दे देता तो छन्द: पद से गृहीत की जाने वाली शाखाओं को वैदिक शब्द का स्थान न प्राप्त होता अत: भाष्यकार ने हो सकता है कि अथर्ववेद संहिता का मूल मंत्र "ये त्रिषप्ता:" जानते हुये भी शाखाओं के शब्दों (विशेषत: पैप्पलाद शाखा के शब्दों को) भी वैदिक शब्द की स्थिति प्राप्त हो—इसलिए पैप्पलाद शाखा के आदि मंत्र "शन्नो देवी:" को उद्धृत किया। अथर्व की शाखाओं के अतिरिक्त शेष वेदों की शाखाओं को तो वह स्थिति प्राप्त हो ही जाती है क्योंकि उनके आदिम मंत्र उनकी शाखा के भी आदिम मंत्र ही हैं।

गोपथ[1] ब्राह्मणपूर्वार्ध १।१।२९ में जो वर्णन किया गया है वह भी इस मार्ग में कोई आपत्ति नहीं खड़ी करता है। उसमें यह लिखा गया है कि "अग्निमीढे पुरोहितम्" को आदि में करके ऋग्वेद, "इषे त्वोर्जे" को आदि में करके यजुर्वेद, "अग्न आयाहि" वीतये को आदि करके सामवेद और "शन्नोदेवीरभिष्टये" को आदि में करके अथर्ववेद को पढ़े। यहाँ पर ब्राह्मणकार ने जो विचार प्रस्तुत किया है वह वेदों के सामष्टि रूप से दैवत आदि के विचार से किया है। ऋग्वेद का अग्नि, यजुर्वेद का वायु, सामवेद का आदित्य और अथर्व का आपः देवता है। गोपथ ब्राह्मण पैप्पलाद शाखा का ब्राह्मण ज्ञात होता है अतः उसका ऐसा वर्णन करना ठीक ही है। इससे मूल अथर्ववेद के प्रथम मंत्र "ये त्रिषप्ताः" होने का खण्डन नहीं होता।

वर्तमान समय में सायणभाष्य भी उसी मूल संहिता पर उपलब्ध है; जिसका आदिमंत्र "ये त्रिषप्ताः" है। संहिता के रूप में जो संस्करण उपलब्ध हैं उन में भी आदि मंत्र वही है। श्री पं० सातवलेकर, श्री पं० राजराम जी और श्री पं० क्षेमकरण दास जी आदि ने इसे ही अथर्ववेद की संहिता का प्रथम मंत्र माना है। अपने भाष्य में इस मंत्र के भाष्य के नीचे टिप्पणी देकर पंडित राजाराम जी ने यह लिखा है कि "यह सूक्त पैप्पलाद में निकट ही है" पुनः वहीं पर "श्री सायणाचार्य ने त्रिषप्ताः" के तीन अर्थ दिये हैं, ऐसा लिखा है। अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के ६

---

[1] अग्निमीढे पुरोहितम्······आदिं कृत्वा ऋग्वेदम्––इषे त्वोर्ज्जे॰·········यजुर्वेदमधीयते। "अग्नआयाहि वीतये"·········सामवेमदधीयते "शन्नोदेवीरभिष्टय" इत्येवमादिं कृत्वा अथर्ववेदमधीयते। गोपथ १।१।२९।

ठें सूक्त का भाष्य करते हुये फुट नोटमें लिखा है कि "यह सूक्त पैप्पलाद में नहीं हैं। संभव है उसके पहले पत्र पर हो जो नष्ट है।" "शन्नोदेवी:" इस सूक्त का प्रथम मंत्र है। ग्रिफिथ के अनुवाद में भी 'ये त्रिषप्ता:" को अथर्व संहिता का प्रथम मंत्र माना गया है। अत: पैप्पलाद शाखा ही मूल अथर्व वेद है—यह सुतराम् असिद्ध है।

८—महाभाष्यकार शाखा को भी वेद मानते हैं इसके लिए जो हेतु इस शीर्षक के आक्षेप में दिये गये हैं वे भी निराधार हैं। लेखक 'यक्ता' को महाभाष्य का कुछ भी परिज्ञान नहीं है—अत: वह जो कुछ कहें कह सकते हैं। महाभाष्यकार के महाभाष्य को समझना भी कोई इतना सरल कार्य नहीं है कि कोई भी उसमें अपना माथा मारने लगे। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में "छन्दसि" पद का प्रयोग किया है। इसका विस्तृत विवरण तो ९ वें आक्षेप के उत्तर के समय दूँगा। यहाँ पर केवल महाभाष्यकार छन्द: से क्या लेते हैं इस पर ही संक्षेप में प्रकाश डालूँगा। पाणिनि के "छन्दसि" को ध्यान में रखते हुए महाभाष्यकार ने दो प्रकार के छन्द माने हैं। एक छन्द वह है जिसमें फेरफार है और दूसरा छन्द वह है जिसमें फेरफार नहीं है। अष्टाध्यायी ४।३।१०१ पर पाणिनि का प्रसिद्ध सूत्र "तेन प्रोक्तम्" है। महाभाष्य ४।३।१।१०१ पर इसकी व्याख्या की है। "प्रसङ्ग चला कर भाष्यकार कहते हैं" [1]तो फिर "कृते ग्रन्थे"

---

[1]तत्र कृते ग्रन्थे—इत्येव सिद्धम्। ननु चोक्तं न हि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानि छन्दांसीति। छन्दान्स्यपि क्रियन्ते। यद्यप्यर्थो नित्य: या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्च भवति काठकं, कालापकं मोदकं पैप्पलादकमिति ।। महा० ४।३।१०१

से ऐसा ही सिद्ध है कि छन्द में ("कृते ग्रन्थे" अष्टा० ४।३।११६ सूत्र) से कृतार्थक प्रत्यय हो सकता है। फिर यह भी कहा जा चुका है कि छन्द बनाये नहीं जाते—वे नित्य हैं। उत्तर में (भाष्यकार ने) कहा कि छन्द भी किये जाते हैं—यद्यपि अर्थ नित्य हैं परन्तु उनकी जो वर्णानुपूर्वी है वह अनित्य है। वर्णानुपूर्वी के इस भेद से ही काठक, कालापक, मौदक, पैप्पलादक (शाखा) आदि नाम से शाखायें बन गई हैं। महाभाष्यकार का यहाँ पर यह कथन है कि "छन्द" किये भी जाते हैं और उन किये (बनाये) हुए छन्दों में काठक शाखा, कालापक शाखा, मौदक शाखा और पैप्पलादक शाखा आदि हैं। यद्यपि वेद के अर्थ को लेकर ये छन्द किये गये हैं, अतः अर्थ तो इनका नित्य है परन्तु छन्द में वर्णानुपूर्वी का फेरफार है अतः वह कृत है। अतः भाष्यकार के मत में छन्दः में शाखायें भी आती हैं परन्तु इनमें फेरफार होने से ये अनित्य हैं और किये हुए (कृत छन्द) हैं।

दूसरे छन्दः—प्रकार का वर्णन महाभाष्यकार ने महाभाष्य ५।२।५९ पर किया है। वहाँ पर वह कहते हैं कि "[1]आम्नाय= वेद में स्वर नित्य है "अस्य वामस्य" को वर्णानुपूर्वी भी वेद में नित्य है। यहां भाष्यकार ने स्पष्ट कर दिया कि वेद की मूल संहिताओं की वर्णानुपूर्वी नित्य है।

महाभाष्यकार के दोनों ऊपर दिये गये वचनों से यह परिणाम निकलता है कि एक छंद काठक आदि शाखा हैं जिनमें फेरफार होता है और इनको वर्णानुपूर्वी अनित्य है। एक छन्द ऐसे हैं जो "अस्य

---

[1]स्वरो नियत आम्नायेऽस्य वामशब्दस्य वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता ।। महाभाष्य ५।२।५९

वामीय" आदि हैं—इनमें फेर फार नहीं होता और इनकी वर्णानुपूर्वी नित्य है और यही मूल वेदसंहिता है। महाभाष्यकार के इस सिद्धान्त के ज्ञात हो जाने के पश्चात् अब यह कहने का अवसर नहीं रह जाता है कि उसने शाखाओं की प्रतीकें और प्रयोग आदि क्यों दिये अथवा उसके ऐसा करने से उसके द्वारा उद्धृत शाखा-वचन के आधार पर शाखायें वेद हो जाती हैं। महाभाष्यकार शाखाओं के वचन इसलिए नहीं प्रयोग करता है कि शाखायें भी मूल वेद हैं बल्कि इसलिये प्रयोग करता है कि छन्दः में कृत छन्दः की परिभाषा में ये भी आती हैं। उसने मूल संहिताओं को नित्य सिद्ध करके इन्हें शाखाओं से स्वयं ही पृथक् कर दिया।

महाभाष्य १।१।१ पर यह प्रश्न चला है कि बहुत से शब्द हैं जिनका प्रयोग नहीं पाया जाता है और इनके स्थान पर दूसरे शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। जैसे[1] "ऊष" के स्थान में "उषित" "चक्र" के स्थान में "कृतवन्तः", "पेच" के स्थान में "पक्तवन्तः" आदि का प्रयोग होता है। इसका उत्तर देते हुये भाष्यकार कहते हैं कि "आपके[2] जो अप्रयुक्त पद हैं उनका भी प्रयोग मिलता है—यथा वेद में "सप्तास्ये रेवती रेवदूष"; "यद्वो रेवती रेवत्यां

---

[1] "ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे क्व यूयमुषिताः; "तेर" इत्यस्यार्थे क्व यूयं तीर्णाः। चक्रेत्यस्य स्थाने क्व यूयं कृतवन्तः, पेच इत्यस्य स्थाने क्व यूयं पक्ववन्त इति। म० १।१।१

[2] ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दा एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क्व ? वेदे। तद्यथा "सप्तास्ये रेवतीरेवदूष "यद्वो रेवतीं रेवत्यां तमूष" "यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र", "यत्रा नश्चका जरसं तनूनाम्" इति। म० १।१।१

तमूष"; यन्मे "नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र" तथा "यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्"—प्रयोग पाये जाते हैं। इन प्रयोगों में यदि कोई प्रयोग शाखा भाग से दिया गया है तब भी शाखा का वेद होना नहीं बनता। कारण यह है कि भाष्यकार छन्द के अन्तर्गत दोनों को मानकर उदाहरण दे रहा है। उसने छन्द में वेदमूल और शाखा दोनों को मानते हुये भी मूल वेद को पृथक् कर रखा है। फिर उस के इन प्रयोगों में यदि कोई शाखा का प्रयोग आ गया तो शाखा मूल वेद कैसे बन जावेगी। दयानन्दरहस्य के लेखक को लेशमात्र भी भाष्यकार की प्रक्रिया और इन प्रतीकों का परिज्ञान न होते हुये व्यर्थ में ही उसने अण्ड-बण्ड तुक भिड़ाने का प्रयत्न किया है। क्या यह शोभनीय बात है ?। वह अपनी पुस्तक में लिखता है कि इन प्रतीकों में पहली प्रतीक "सप्तास्ये रेवती रेवदूष" स्वामी जी की मानी हुई मूल संहिता ऋग्वेद ४।५१।४ में मिलती है। चौथी प्रतीक "यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्" ऋग्वेद १।८९।९ और यजुर्वेद २५।२२ में मिलती है। परन्तु इनमें से तीसरी—"यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र" स्वामी जी की मूल वेद मानी हुई किसी भी संहिता में नहीं मिलती है। वह कृष्ण यजुर्वेद की काठक शाखा में ९।१८ पर मिलती है अतः यह वेद है। यह कितनी बड़ी अनधिकार चेष्टा है कि जिस चीज को कोई न जानता हो उस पर वह इस प्रकार का दावा करे। श्री रामचन्द्र यक्ता कहते हैं कि यह प्रतीक "यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र" स्वामी जी की मानी किसी मूल संहिता में नहीं है—यदि उनको यह किसी मूल संहिता में ही दिखा दी जावे तो फिर क्या होगा ? क्या इसके लिए वे प्रायश्चित्त करेंगे ?। लीजिये यहाँ पर मैं स्वामी जी की मानी हुई मूलसंहिता से ही इस प्रतीक को दिखला देता हूँ।

ऋग्वेद संहिता १।१६५।११ पर यह प्रतीक मौजूद है। पूरा मंत्र इस प्रकार है—

अमन्दन्मा मरुतः स्तोमो अत्र "यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र"। इन्द्राय वृष्णे सुमखाय मह्यं सख्ये सखायस्तन्वस्तनूभिः ॥ ऋग्वेद १।१६५।११ ॥

यह है दयानन्द रहस्य के लेखक के ज्ञान की स्थिति। पाठक स्वयं इसका निर्णय कर सकते हैं कि वह कितने पानी में है।

यह लिखना कि दूसरी प्रतीक कहीं नहीं मिलती—शाखा को वेद नहीं सिद्ध कर सकता है। यह यदि किसी शाखा में मिल भी जावे तो क्या महाभाष्यकार के माने हुये पूर्वोक्त सिद्धान्त को काटा जा सकेगा। यदि यह मूल वेद में नहीं मिलती है तो क्या इससे मूल वेद का वेद न होना और शाखा का वेद होना सिद्ध हो जावेगा। भाष्यकार ने तो जैसा पहले दिखला चुका हूँ मूल वेद और शाखा को पृथक्-पृथक् सिद्ध ही कर दिया है।

(९) पाणिनीय अष्टाध्यायी ७।१।४९ में आये "स्नात्वी" पद के किसी भी मूल वेद में न मिलने और काठक तथा मैत्रायणी शाखा में मिलने से पाणिनि इन्हें वेद मानता है—यह सिद्ध नहीं हो सकता है। पाणिनि और उसकी अष्टाध्यायी को बिना समझे इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना सब प्रकार से निर्मूल है। अष्टाध्यायी एक सागर है। उसमें सभी नहीं तैर सकते हैं। पाणिनि के रहस्य को जताने के लिए यहाँ पर कुछ पंक्तियां लिखी जाती हैं।

पाणिनीय अष्टाध्यायी में वैदिक साहित्य के पदों की सिद्धि प्रकार को बताने वाले निम्न शब्द एक अथवा अनेक बार प्रयुक्त मिलते हैं।—

छन्दस्	१०६	वार लगभग	प्रयुक्त है।
मंत्र	८	,,	,,
चरण	१	,,	,,
ब्राह्मण	१	,,	,,
संहिता	३	,,	,,
छन्दो ब्राह्मण	१	,,	,,
यजु: काठक	१	,,	,,
ऋक्	१	,,	,,
निगम	५	,,	,,
यज्ञ	१	,,	,,

छन्द: का व्यापक अर्थ

पुस्तक का कलेवर अधिक न बढ़ जावे अत: संक्षेप में हो यहाँ पर कुछ विचार किया जाता है। अष्टाध्यायी १।२।३६ (विभाषा छन्दसि) में छन्दस् पद का प्रयोग पाया जाता है। इसमें जितने उदाहरण भाष्यकर्ता और टीकाकारों ने दिये हैं मूल संहिता मंत्रों से ही दिये हैं। अष्टाध्यायी १।२।६१-६२ (छन्दसि पुनर्वसोरेकवचनम् ।। विशाखयोश्च) में मैत्रायणी और काठक तथा तैत्तिरीय शाखाओं से प्रयोग के उदाहरण दिये गये हैं। २।३।३ (तृतीया च होश्छन्दसि) पर जितने उदाहरण मिलते हैं वे सब ब्राह्मण ग्रन्थ और श्रौत सूत्रों से दिये गये मिलते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि छन्दस् पद से पाणिनि का आशय व्यापक है। परन्तु यह सुतराम् स्पष्ट है कि छन्दस् पद का प्रयोग मूल संहिताओं के लिये भी किया जाता है।

छन्दस् और ब्राह्मण की भिन्नार्थता

अष्टाध्यायी २।३।६० (द्वितीया ब्राह्मणे) में ब्राह्मण पद का प्रयोग है और इस सूत्र की अनुवृत्ति नियमानुसार इसके अगले

२।३।६१ (प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने) सूत्र में स्वभावतः प्राप्त है। इससे अगले सूत्र २।३।६२ (चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि) में छन्दस् पद का प्रयोग किया गया है। यह इस बात का ज्ञापक है कि पाणिनीय अष्टक में ब्राह्मण और छन्दस् पद का प्रयोग भिन्नार्थक भी है। नहीं तो ब्राह्मण पद को अनुवृत्ति तो पहले (२।३।६०) सूत्र से आ ही रही है फिर छन्दस् के ग्रहण करने की क्या आवश्यकता थी? परन्तु आचार्य ने यहाँ पर छन्दस् पद का ग्रहण किया है—इससे ज्ञात होता है कि यहाँ पर छन्दस् पद से ब्राह्मण से भिन्न मूल संहिता मंत्रों का ग्रहण है। इसकी पुष्टि में महर्षि दयानन्द इस सूत्र का भाष्य करते हुए अपने अष्टाध्यायी भाष्य में लिखते हैं—"छन्दस्[1] पद से यहाँ मूल वेद मंत्र भाग का ग्रहण है और ब्राह्मण पद से ऐतरेयादि व्याख्यानों का। इसी लिए ब्राह्मण पद की अनुवृत्ति होने पर भी यहाँ सूत्र में फिर छन्दस् ग्रहण किया गया है। महर्षि दयानन्द ने इस सूत्र के भाष्य में ब्राह्मण और मूल वेद से भी उदाहरण दिये हैं। परन्तु उनके कथन का यहाँ पर यह ही आशय है कि छन्दस् से ब्राह्मण का भेद भी है।

मंत्र और छन्दस् की भिन्नार्थता

अष्टाध्यायी ३।२।७१ (मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशोण्विन्) में 'मंत्र' पद का प्रयोग है। इससे अगले ७२ वें सूत्र (अवे यजः ३।२।७२) में इसकी अनुवृत्ति जाती है। इनके उदाहरण ऋक् तथा यजुर्वेद से ही दिये गये हैं। आगे ७३ वें सूत्र (विजुपे छन्दसि ३।२।७३) में फिर छन्दसि पद का प्रयोग किया गया है। यदि

[1] छन्दः शब्देन मंत्रभागस्य मूलवेदस्य ग्रहणं भवति। ब्राह्मणशब्देनैतरेयादिव्याख्यानानाम्। अत एव "ब्राह्मणे" इत्यनुवर्त्तमाने पुनश्छन्दोग्रहणं कृतम्। अष्टाध्यायीभाष्य २।३।६२

मंत्र और "छन्दस्" पद पाणिनि के नय में एकार्थक ही होते तो फिर इस ७३ वें सूत्र में पृथक् छन्दस् के प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि पूर्व सूत्रों से तो "मन्त्र" की अनुवृत्ति प्राप्त हो थी। अतः "मंत्र" और छन्दस् का पृथक् क्षेत्र भी है यह यहाँ पर सिद्ध है। महर्षि दयानन्द इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं कि "मंत्र की अनुवृत्ति होने पर भी छन्दस् का पुनः ग्रहण करने का यह प्रयोजन है कि मंत्र शब्द से मूल-संहिता का ग्रहण होता है और यहाँ पर छन्द ग्रहण से यह बतलाया गया कि शाखाओं का भी ग्रहण हो सके[१]।" यहाँ पर यह सिद्ध होता है कि अष्टाध्यायी में मंत्र और छन्दस् पद का पृथक् भिन्नार्थ भी है।

अष्टाध्यायी २।४।४८ (हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि) में प्रयोग के उदाहरण मूल संहिता और काठक आदि से दिये गये हैं। २।४।७३ (बहुलं छन्दसि) में छन्दस् पद का प्रयोग है परन्तु उदाहरण केवल मूल संहिता से दिये गये हैं। पुनः २।४।७६ (बहुलं छन्दसि) में उदाहरण केवल काठक और मैत्रायणी शाखाओं से दिये गये हैं। २।४।८० (मंत्रे घस ह्वरणशवृदहाद्वृचकृगमिजनेभ्यो लेः) में मंत्र पद का प्रयोग है। इस सूत्र के सभी उदाहरण मूल वेद संहिता से ही दिये गये हैं। परन्तु "अज्ञत" प्रयोग जो "जनि" धातु का है; वह ब्राह्मण से ही दिया गया है। काशिकाकार ने यहाँ पर लिखा है कि "जनि" अज्ञत वा अस्य दन्ताः। ब्राह्मणे प्रयोगोऽयम्। मंत्रग्रहणं तु छन्दस उपलक्षणार्थम् अर्थात् यहाँ पर "जनि" धातु का "अज्ञत" प्रयोग ब्राह्मण से है।

---

[१]मंत्र इत्यनुवर्तमाने पुनश्छन्दोग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम् । मंत्र शब्देन मूलसंहितानां ग्रहणं भवति, तत्र (छन्दोग्रहणे) शाखान्तराणामपि ग्रहणं यथा स्यात् । अष्टा० भाष्य ३।२।७३

सूत्र में मंत्र ग्रहण छन्दस् का उपलक्षण है। महर्षि ने भी ऐसा ही माना है और वे लिखते हैं—"मन्त्र ग्रहणं तु छन्दस उपलक्षणार्थम्" अर्थात् इस सूत्र में मंत्र का ग्रहण छन्दस् के उपलक्षणार्थं है। इससे यह ज्ञात हुआ कि 'छन्दस्' पद का प्रयोग मूल वेद और समस्त वैदिक साहित्य के लिए पाणिनि ने किया है। २।४।८० सूत्र में मंत्र का ग्रहण छन्द का उपलक्षण है। उपलक्षण कहने से ही यह सिद्ध है कि "मंत्र" पद अष्टाध्यायी में छन्दस् का समानार्थक नहीं। अन्यथा उपलक्षण का कोई तात्पर्य ही नहीं।

अष्टाध्यायी ३।१।४२ में (अभ्युत्सादयां०) में छन्दस् पद प्रयुक्त है। इसमें निपातित अन्य पदों का पता नहीं मिलता है परन्तु "विदामक्रन्" प्रयोग तैत्तिरीय ब्राह्मण में है। ३।१।५९ (कृमृदृरुहिभ्यश्च्छन्दसि) में पठित "कृ" और "रुह्" के प्रयोग वेद संहिता में उपलब्ध हैं। ३।१।१२३ में "छन्दसि" पद का प्रयोग है। इसमें पठित "निष्टर्क्य" आदि सारे पद ब्राह्मण ग्रन्थों के हैं केवल एक मात्र "आपृच्छ्य:" मूल ऋग्वेद का है। ३।२।२७ (छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्) में छन्दस् पद है परन्तु इसके सारे उदाहरण मूल वेद से ही दिये गये हैं। ३।२।६३-६७ सूत्रों (छन्दसि सह:—से—"जनस्वन खनक्रमगमोविट्" तक) में सब मूल वेदों ही से उदाहरण मिलते हैं। ३।२।७१ (मंत्रे श्वेतवह०) में "मंत्र" पद है। ७२ वें सूत्र में इसकी अनुवृत्ति जाती है। सारे उदाहरण मूल वेदों के ही हैं। इनका हो पुरोवर्त्ती ३।२।७३ सूत्र है। इसके प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थ के हैं। ७१ वें और ७२ वें सूत्र में मंत्र पद की स्थिति होने पर भी ७३ वें सूत्र का छन्दस् पद मंत्र और छन्दस् की समानार्थकता का बाधक है।

छन्दः, मंत्र और ब्राह्मण की भिन्नार्थकता

अष्टाध्यायी ३।२।७४ में छन्दस् पद की अनुवृत्ति है। उदाहरण मूलवेद और शाखाओं से दिये गये हैं । ३।२।८८ में (बहुलं छन्दसि) छन्दस् पद है परन्तु उदाहरण छान्दोग्योपनिषद् का दिया गया है। ३।२।१०५ तथा ३।२।१०६ (छन्दसि लिट्; लिटः कानज् वा) में छन्दस् के अनुसार सब उदाहरण मूल संहिताओं के हैं। ३।२।१७० (क्याच्छन्दसि) में छन्दस् प्रद का प्रयोग है। उदाहरण मूल संहिता के दिये गये हैं। ३।२।१७१ (आहगमहन-जनः०) के वार्तिक "कि किनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्" के उदाहरण मूल संहिता, मैत्रायणी आदि शाखा और ब्राह्मण आदि से दिये गये हैं। ३।३।९६ (मंत्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः) में मंत्र पद पठित है। सारे उदाहरण मूल संहिता से दिये गये हैं। ३।४।६ (छन्दसि लुङ्लङ्लिटः) की छन्दस् अनुवृत्ति ३।४।१७ वें सूत्र तक जाती है। इन सूत्रों पर अधिकतया ब्राह्मण ग्रन्थों और सामान्यतः अन्य वैदिक साहित्य के प्रयोग दिये गये हैं। ३।४।११७ (छन्दस्युभयथा) में छन्दस् पद का पाठ है। उदाहरण सभी वैदिक साहित्य से दिये गये हैं। यहाँ पर इस समस्त वर्णन से यह पता चल जाता है कि पाणिनोय अष्टक में "मंत्र" का प्रयोग इनमें केवल मूल संहिता से है और "छन्दस्" का प्रयोग सम्पूर्ण वेद तथा वैदिक साहित्य के लिए है । ब्राह्मण पद केवल ब्राह्मणों के लिये ही है। अतः ये सारे पद एकार्थक नहीं हैं—भिन्नार्थक हैं ।

पाणिनि के इन विचारों के स्पष्टीकरण के लिये नीचे सूत्र दिये जाते हैं—

(क) छन्दो ब्रह्माणनि च तद्विषयाणि । अ० ४।२।६६—यहाँ पर सूत्र में छन्दस् और ब्राह्मण दोनों पदों का प्रयोग है। यदि छन्दस् और ब्राह्मण समानार्थक हैं तो दोनों में से एक का प्रयोग व्यर्थ है।

(ख) जुष्टार्पिते छन्दसि—अ० ६।१।२०९।—इस सूत्र में "छन्दसि" पद पड़ा है परन्तु अगले सूत्र ६।१।२१० (नित्यं मंत्रे) में मंत्र पद पड़ा है। यदि छन्दस् और मंत्र समानार्थक हैं तो फिर छन्दस् की तो यहाँ पर पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति है ही फिर "मंत्र" ग्रहण की आवश्यकता नहीं थी।

विशेष

पहले दिये गये चरण आदि सभी शब्दों पर विचार करने से बड़ा विस्तार हो जावेगा अतः यहाँ पर मंत्र, छन्दस्, ब्राह्मण आदि प्रसङ्गतः सम्बद्ध शब्दों पर ही विचार किया गया। शेष निगम, संहिता, यजुषि, ऋक् आदि का संक्षेप में वर्णन नीचे दिया जाता है—

निगम एवं संहिता—अष्टाध्यायी ६।३।११३ (साढ्यै साढ्वा साढेति निगमे) में निगम और ६।३।११४ (संहितायाम्) में संहिता पद का प्रयोग है। यह ज्ञापन करता है कि दोनों पद भिन्नार्थक हैं।

मन्त्र और यज्ञ—अष्टाध्यायी ६।४।५३ में (जनिता मंत्रे) "मंत्र" का प्रयोग और ६।४।५४ (शमिता यज्ञे) में यज्ञ का प्रयोग है। यह प्रयोग दोनों पदों की भिन्नार्थता प्रकट करता है।

संहिता और छन्दस्—अष्टाध्यायी ८।२।१०८ (तयोर्य्वावचि संहितायाम्) में "संहिता" और ८।३।१। (मतुवसो रु संबुद्धौ

छन्दसि) में छन्दस् पद का प्रयोग है। ये दोनों भी अपनी भिन्नार्थता के द्योतक हैं।

ऋक्, यजुः और यजुः काठक—अष्टाध्यायी ६।३।१३३ में ऋक् (ऋचि तुनु०) और अष्टाध्यायी ६।१।११७ (यजुष्युरः) एवं ८।३।१०४ (यजुष्येकेषाम्) में "यजुः" का प्रयोग है—तथा ७।४।३८) (देवसुम्नयोर्यजुषि काठके) में "यजुः काठक" का प्रयोग है। यह इन की एकार्थता न बताकर भिन्नार्थकता को प्रकट करता है।

यजुः और छन्दस्—८।३।१०४ में (यजुष्येकेषाम्) "यजुः" पद और ८।३।१०५ (स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि) में छन्दस् पद प्रयुक्त है। यहाँ पर दोनों की भिन्नार्थता स्पष्ट है।

इतने लम्बे विचार का निष्कर्ष निम्न प्रकार है—

१—निगम पद का प्रयोग चार मूल संहिताओं के अतिरिक्त सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के लिए किया गया है।

२—छन्दस् पद का प्रयोग संपूर्ण वैदिक साहित्य के लिए है।

३—संहिता—पद का प्रयोग ब्राह्मण भाग को छोड़कर मूल संहिताओं और शाखाओं के लिए किया गया है।

४—मंत्र पद का प्रयोग चार मूल संहिताओं तथा शाखाओं में मूल संहिताओं से उद्धृत मंत्र भाग के लिये किया गया है।

५—ऋक् पद का प्रयोग ऋक् छन्द के लिए है।

६—यजुः पद का प्रयोग यजुः मंत्र के लिए है।

७—यजुः काठक पद का प्रयोग यजुः की काठक शाखा के लिये है।

यह संक्षेप में है अष्टाध्यायी के विश्लेषण का प्रसक्त विषय सम्बन्धी परिणाम। अब नवें प्रश्न के उत्तर समझने में सरलता हो जावेगी।

यजुः २०।२० में "स्नातः", अथर्व ६।११५।३ में "स्नात्वा" पाठ मिलता है। मैत्रायणी शाखा ३।११।११, तैत्तिरीय ब्राह्मण २।४।४।६ और काठक शाखा ३८।५।६३ में यह पाठ पाया जाता है। जैसा ऊपर बतला दिया गया है कि पाणिनि के "छन्दस्" पद में सामान्य रूप से शाखा का भी ग्रहण होने से "स्नात्वी" पद के शाखा वचन होने से भी—ये शाखायें वेद नहीं हो सकती हैः। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वह वचन शाखाओं से आया है। अतः उसका यहाँ पर कोई प्रसंग ही नहीं है। अगर पाणिनि के मत में छन्दस् पद केवल मंत्र भाग मूलसंहिताओं के लिए ही प्रयुक्त होता तो यह प्रश्न उठ सकता था।

१०—६ वें आक्षेप के विचार के समय में इस पर विचार किया जा चुका है। इस सूत्र ३।१।१२३ में आये हुये सभी पदों का प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों का होने पर भी "आपृच्छ्यः" पद ऋग्वेद ६।१०७।५ में पाया जाता है। जिस वाक्य में यह "निष्टर्क्य" पद प्रयुक्त है वह पूरा वाक्य कहाँ का है—इसका प्रमाण भी देना चाहिए था। केवल "निष्टर्क्य" पद तैत्तिरीय शाखा ६।१।७।२ में मिलता है। उससे पूरे वाक्य की प्रामाणिकता का कोई पता नहीं चलता है। "निष्टर्क्य" पद के तैत्तिरीय शाखा ६।१।७।२ में आने से भी यह शाखा वेद नहीं हैं। क्योंकि पाणिनि के "छन्दस्" का अर्थ केवल मूल संहिता ही नहीं है। अतः इस शाखा का शाखा होना ही सिद्ध होता है। "आपृच्छ्यः" पद ऋग्वेद का है अतः मूल वेद का पद भी यहाँ पर मिल ही रहा है। अतः

सिद्ध है कि छन्दः पद से वेद, शाखा आदि के अभिप्रेत होने के कारण पाणिनि का यह सामान्य उल्लेख है। शाखा को वेद मान कर नहीं।

११—भाष्यकार हेर-फेर वाले और बिना हेर-फेर वाले-दो प्रकार के छन्दों को मानता है। यह पूर्व इसी शाखा के प्रकरण में बतलाया जा चुका है। अतः मूल यजुर्वेद ६।२६ और काण्व में ६।३८ पर "श्रोता ग्रावाणः" पाठ मिलने और तैत्तिरीय शाखा १।३।१३।१ में श्रृणोत ग्रावाणः पाठ मिलने से यह शाखा वेद नहीं बन जाती है। मूल पाठ "श्रोता ग्रावाणः" है उसका अर्थ तैत्तिरीय शाखा ने "श्रृणोत ग्रावाणः" पाठ से प्रकट किया है। महाभाष्यकार हेर-फेर वाले कृत छन्दों के भी तो प्रयोग देते हैं—अत. यह शाखा का प्रयोग दे दिया। कैय्यट की सारी बातें प्रमाणकोटि में नहीं आती हैं। जब कि वे स्वयं महाभाष्य के विरुद्ध हैं, उनका प्रमाण कैसे माना जा सकता है। रामचन्द्र जी यह भी तो बतलावें कि उनके रूढ़िवाद के अनुसार महाभाष्य में उद्धृत और उनके वेद में लिखित "ग्रावाणः" (पत्थरों) में सुनना किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा।

१२—यास्काचार्य ने निरुक्त १।१५ पर "ओषधे त्रायस्वैनम्" प्रतीक दी है, वह यजुः ४।१; ५।४२, और ६।१५ पर मिलती है। परन्तु इन में ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः—पाठ मिलता है। यास्क द्वारा पढ़े गये पाठ में "एनम्" पद अधिक है। परन्तु इससे किसी प्रकार दयानन्द रहस्य के लेखक का पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता है। यास्क ने आगे के वाक्य में "एनम्" पद को देख कर यहाँ पर 'एनम्' पद का ऊह के नियम से अध्याहार कर लिया है। काठक शाखा ३।२।६, तैत्तिरीय शाखा १।२।

११ और मैत्रायणी १।२।२ में "एनम्" से युक्त जो पाठ मिलता है वह भी मूलपाठ का कर्मकाण्ड की सुलभता के लिए और मंत्र के स्पष्टीकरण के लिए अध्याहृत एवं ऊहित रूप ही है। मीमांसा भाष्य में भी उसी का वर्णन कर दिया गया है।

अतिरिक्त इसके यदि इन शाखाओं के पाठ को ही यास्क द्वारा सम्मत पाठ मान लिया जावे तब भी ये शाखायें वेद नहीं बनती हैं। क्योंकि यास्क ने निघण्टु और निरुक्त में केवल मूल संहिताओं के ही पदों का वर्णन नहीं किया है। शाखाओं से पदों का संग्रह भी किया है। उसके "छन्दः" के अर्थ में शाखायें भी आती हैं। अतः यह वर्णन उसका शाखा को वेद मानने के कारण नहीं है बल्कि वैदिक पदों के वर्णन के कारण से है। इसका स्पष्टीकरण १५ वें आक्षेप में करूँगा।

१३—यहाँ पर दयानन्द रहस्य के लेखक ने आख्यातिक का पृष्ठ भी गलत दिया है। संस्करण का नाम भी देना चाहिए था। उसने सूत्र भी पूरा नहीं दिया है। सूत्र में पाठ भी "तेसुन" नहीं "तोसुन" होना चाहिए। बहुधा उसके दिये गये प्रमाणों के पते गलत पाये जाते हैं। यह सूत्र महर्षि के द्वारा अष्टाध्यायी भाष्य में भी ३।४।१६ पर व्याख्यात है। "काममाविजनितोः सम्भवामः" उदाहरण भी दिया है। इस वचन के तैत्तिरीय २।५।१।५ पर होने पर भी यह शाखा वेद नहीं बन जाती। क्योंकि पाणिनि के छन्दः की परिभाषा में यह आ जाती है। अतः शाखा ही समझकर इस का वचन यहाँ पर प्रयुक्त है, मूल वेद समझकर नहीं।

१४—इसका उत्तर नवें आक्षेप के उत्तर में दिया जा चुका है। इस सूत्र में काठक को यजुः का एक भेद कहा गया है। जो शाखा के रूप में भेद है ही। इस वर्णन से यह मूल यजुर्वेद नहीं

बन जाता है। क्योंकि मूल यजुः के लक्षण में यह यदि आ सकता होता तो यजुः का प्रयोग तो (जैसा दिखला चुका हूँ ९ वें आक्षेप के उत्तर में) इससे भिन्न अर्थ में पाणिनि ने किया है। यदि यजुः और काठक यजुः समानार्थक होते तो काठक विशेषण की क्या आवश्यकता थी। सूत्र का अर्थ भी इस बात का स्पष्टीकरण करता है। वह यह बतला रहा है कि यजुः की काठक शाखा में देव और सुम्न अङ्ग को आकार आदेश हो जावे क्यच् प्रत्यय के परे रहते हुये। इससे स्पष्ट हो गया कि इसके अतिरिक्त में यह आदेश न हो।

१५—निघण्टु में छन्दोभ्यः छन्दोभ्यः समाहृत्य समाम्नाताः से यह नहीं कहा गया है कि इसमें केवल मूल वेद-संहिताओं के पद ही संगृहीत हैं। इसीलिए वेदमंत्रों की बाहुल्य से व्याख्या और प्रतीक होते हुये भी स्थल-स्थल पर शाखा वचन भी आ जाते हैं। निरुक्त १०।३ पर यास्क ने ७।४६।१ ऋग्वेदीय मंत्र का निगम दिया है और "रुद्र" की व्याख्या की है। यास्क यहाँ पर लिखता है "यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्" इति काठकम् "यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्" इति हारिद्रविकम्" अर्थात् जो रो पड़ा इससे उसे रुद्र कहा गया है। यहाँ पर प्रथम वाक्य काठक शाखा २५।१ का है और दूसरा वाक्य मैत्रायणी ४।२।१२ से मिलता है। दुर्ग यहाँ पर कहता है कि "यह हारिद्रव मैत्रायणी वालों का शाखा भेद है। हारिद्रवो नाम मैत्रायणीयानां शाखाभेदः ।। दुर्ग यहाँ पर यह भी कहता है कि यहाँ पर यास्क का "काठक" और "हारिद्रविक" कथन इसलिए है कि अन्य आखाओं से निर्वचन आदि को लेना चाहिए । एवं शाखान्तरेभ्योऽपि देवताभिधाननिर्वचनान्तराण्युपेक्ष्याण्युपप्रदर्शनार्थम् यहाँ पर यास्क ने जहाँ काठक और

हारिद्रविक आदि का शाखा होना बतला दिया वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया कि ये मूलवेद के व्याख्यान हैं। ऋग्वेदीय "रुद्र" पद की व्याख्या में वह यहाँ पर इन शाखाओं के निर्वचन का ग्रहण कर ही रहा है। इससे बढ़कर और अधिक प्रमाण की कोई आवश्यकता ही क्या है?।

परन्तु छन्दः की परिधि में शाखा और मूल वेदों को लेते हुये भी यास्क दोनों को पृथक् भी कर देता है। वह कहता है कि वेद की वर्णानुपूर्वी नित्य है। नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति ॥ नि० १।१५ ॥ वह वेद को कर्म की सम्पत्ति वाला और नित्य मानता है। पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसंपत्तिर्मंत्रो वेदे ॥ इस से स्पष्ट हो गया कि यास्क वेद को नित्य और उसकी वर्णानुपूर्वी को भी नित्य मानता है। शाखाओं को वेद का व्याख्यान मानता है। परिभाषा की दृष्टि से उसके छन्दस् प्रयोग में दोनों का ही ग्रहण है। ऐसी स्थिति में यदि निघण्टु पठित कोई पद मूल वेदों में नहीं मिलते हैं तो उससे वे मूल वेद नहीं, यह किस प्रकार सिद्ध हुआ। उसने अपने समय की प्रचलित शाखाओं से लिया होगा। अब वे शाखायें नहीं उपलब्ध हैं। यह आपत्ति तो तब खड़ी हो सकती थी कि जब यास्क के "छन्दोभ्यः" से केवल मूल संहिताओं का ही ग्रहण होता।

१६—यहाँ पर सायण ने तैत्तिरीयारण्यक २।१६ में वेद का अर्थ शाखा नहीं किया है। स्वाध्याय का अर्थ स्वशाखाध्ययनरूप किया है। इससे न स्वाध्याय का वेद होना सिद्ध होता है और न शाखा का वेद होना सिद्ध होता है। यहाँ पर तो स्वाध्याय को महत्ता का वर्णन है। यहाँ पर "स्वाध्याय" को वेद का विशेषण बना कर यह अर्थ निकलेगा—अपने अध्ययन के विषयभूत वेद

को पढ़े"। वेद को स्वाध्याय का पूर्ववर्त्ती बनाकर यह अर्थ बनेगा —वेदरूपी स्वाध्याय का अध्ययन करें। जिस प्रकार "वाचमुवाच" प्रयोग है वैसा ही यहाँ पर "स्वाध्यायमधीयीत" प्रयोग है।

साथ ही यहाँ पर जो प्रकरण उपस्थित है; उसमें तो वेद का अपना स्वरूप स्वयं स्पष्ट है। यह प्रसंग तो ऋग्वेद १०।७१।६ मंत्र ("यस्तित्याज सखिविदं सखायम्") के व्याख्यान का है। तैत्तिरीयारण्यक २।१५ से इसका मिलान करने पर यही परिणाम निकलता है।

सायणाचार्य के अर्थ को मानने के लिए भी कोई बाध्यता नहीं है। वह जो कुछ भी कहे आपको मान्य भले ही हो, कोई दूसरा उसे प्रमाणभूत क्यों माने। किसी वस्तु को तभी माना जा सकता है जब वह बुद्धि और प्रमाण से संगत हो।

विशेष विवेचना

ऐसे भी कुछ तर्क और प्रमाण यहाँ उपस्थित किये जाते हैं जिन से यह सिद्ध होगा कि शाखायें मूल वेद नहीं हैं। जहाँ भी वैदिक साहित्य में वेदका वर्णन मिलता है उसकी संख्या चार ही कही गयी हैं। संख्या से वेदों का चतुष्कत्व इस बात को भली प्रकार प्रकट करता है कि शाखायें मूल वेद नहीं है। वेदों में भी वेदके चार होने का ही वर्णन है। ऋग्वेद १०।९०।७ में[१] ऋक्, यजुः, साम का नाम है और छन्दांसि से अथर्व का ग्रहण है। इसका भी प्रमाण ऋग्वेद ९।११३।६[२] में मिलता है कि छन्दांसि से अथर्व का ही

---

[१] तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ऋग्वेद १०।९०।७; यजुः ३१।७; अथर्व १९।६।१३।

[२] यत्र ब्रह्मा पवमानछन्दस्यां वाचं वदन्॥ ऋ० ९।११३।६।

ग्रहण होना चाहिए। गोपथ ब्राह्मण उत्तरार्ध २।२४ [1]और पुनः ३।२ में भी अथर्व के ज्ञाता को ब्रह्मा वरण करने का विधान है। यह भी प्रमाण है कि अथर्व चतुर्थ वेद है। "चत्वारि शृङ्गा" ऋग्वेदीय ४।५८।३ मंत्र की व्याख्या करते हुये यास्क ने निरुक्त १३।१० पर[२] लिखा है कि "चत्वारि शृङ्गा" से चार वेदों का ग्रहण है। गोपथ ब्राह्मण भी इस पद का यही अर्थ करता है। ऋग्वेद ८।६०।९[3]और यजुः २७।४३ वाणियों के चार प्रकार कथन करके चार वेदों का ही वर्णन किया गया है। निरुक्त १३।७ में किसी शाखा के 'वचन से कहा गया है कि[४] यज्ञ में ऋक् से शंसन, यजुः से यजन, साम से स्तवन (और अथर्व[५] से जप किया) जाता है। मुण्डक १।१।५[६] और छान्दोग्य ७।१।२[७] में भी वेदों की संख्या चार ही वर्णित है।

---

[1]ऋग्वेदविदमेव होतारं वृणीष्व, यजुर्भिरध्वर्युं, सामविदमुद्गातारम्, अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणं तथा हास्य यज्ञश्चतुष्पात् प्रतितिष्ठति गो० उ० २।२४ प्रजापतिर्यज्ञमतनुत। स ऋचैव होतारम्, यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गात्रम्, अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम् ॥ गो० उ० ३।२॥

[२]चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एव उक्ताः। निरुक्त १३।१०,
गो० पू० २।१६।

[3]पाहि नो अग्न एकया .....द्वितीयया.........तिसृभिः.........चतसृभिः। ऋ० ८।६०।९; यजुः २७।४३।

[४]यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुभिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति। निरुक्त १३।७

[५]काठक संहिता ब्राह्मण ४०।७ के पते पर ऋग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति अथर्वभिर्जपन्ति" पाठ दिया जाता है। कई लोगों ने दिया भी है परन्तु इस पाठ के अन्वेषण की आवश्यकता है। सातवलेकर संस्करण में यह पाठ नहीं मिला।

[६]तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्व वेदः। मु० १।१।५।

[७]छान्दोग्य में नारद-सनत्कुमार संवाद देखें।७।१।२।

अथर्व १०।७।२० में चार वेदों का वर्णन[1] है। अथर्व[2] १५।६।८ और[3] ११।८।३ पर और ११।८।२३ में ब्रह्म से अथर्ववेद अभिप्रेत है। पुनः अथर्व १५।६।८ में भी "ब्रह्म" से अथर्व का ग्रहण है। गोपथ पूर्वार्ध २।१६[4] तथा ५।१६ में भी चार वेदों का ही वर्णन मिलता है। चरणव्यूह परिशिष्ट[5] १।२।३ में भी वेदों का चतुष्ठ ही प्रतिपादित किया गया है। वैखानस गृह्य सूत्र[6] २।१२ में भो वेद की संख्या चार लिखो गई है। महाभारत सभापर्व लोकपाल सभा के प्रकरण में अध्याय ११ श्लोक ३२ में चार ही वेद बतलाये[7] गये हैं।

---

[1] यस्यादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्। स्कम्भं ब्रूहि कतम. स्विदेव सः।

अथर्व १०।७।२०।

[2] तमृचः सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्॥

अथर्व १५।६।८।

[3] विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्। शरीरं ब्रह्म प्राविशट्टचः सामाथो यजुः॥ अथर्व ११।८।३।

[4] चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदो ब्रह्मवेद इति।

गो० पू० ।२।१६।

ऋग्वेद एव भर्गो यजुर्वेद एव महः, सामवेद एव यशो ब्रह्मैव सर्वम्॥ गो० पूर्वार्ध ५।१६।

[5] तत्र यदुक्तं चातुर्वेद्यं चत्वारो वेदा विज्ञाता भवन्ति। ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति। चरणव्यूह १।२।३।

[6] जुहोति पृथिव्यै ऋग्वेदाय यजुर्वेदाय सामवेदाय अथर्ववेदाय॥ वैखानस गृह्यसूत्र ।२।१२।

[7] ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव। अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव हि॥ महाभारत सभापर्व ११।३२।

यहां पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि फिर कहीं-कहीं पर ऋक्, यजुः और साम का ही वर्णन क्यों आता है ? इसका समाधान यह है कि मंत्रों की संज्ञा तीन प्रकार की है। चारों वेदों में सारे मंत्र तीन ही प्रकार के हैं अतः ऋक्, यजुः साम का ही व्यवहार होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वेद तीन ही हैं—चार नहीं। मीमांसा में इन का लक्षण इस प्रकार किया गया है। १—अर्थवश पादव्यवस्था वाले मंत्र ऋक् कहे जाते हैं (तत्र ऋग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था)। गान के मंत्र साम हैं (गीतिषु सामाख्या)। इन से अतिरिक्त यजुः कहे जाते हैं। (शेषे यजुः शब्दः)। ये तीनों सूत्र मीमांसा दर्शन में क्रमशः २।१।३२, २।१।३३, और २।१।३४ स्थलों पर हैं। ऋक् सर्वानुक्रमणी के भाष्य में षड्गुरुशिष्य कहते हैं कि[1] यद्यपि वेद तो चार ही हैं परन्तु उन के मंत्र विनियोक्तव्य रूप से ऋक्, यजुः और साम शब्दों से कहे जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में त्रयी विद्या भी इसे ही कहा गया है। इस प्रकार वेद चार ही हैं। उनमें मंत्र तीन प्रकार के पाये जाते हैं। जब वेद चार ही हैं—यह सप्रमाण सिद्ध है तो फिर शाखाओं को व्याख्यान न मानकर मूलवेद कहना अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है।

शाखायें व्याख्यान भूत हैं। वेद नित्य हैं। वेदों की नित्यता भी शाखाओं के वेद होने की बाधिका है। ऋग्वेद ८।७५।६ मंत्र यह बताता है कि वेद वाणी नित्य[2] है। महाभाष्यकार और

---

[1] विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते।
ऋग्यजुःसामरूपेण मंत्रो वेदचतुष्टये॥
ऋ० सर्वानुक्र० भाष्य षड्गुरुशिष्य

[2] तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया।
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्। ऋ० ८।७५।६

निरुक्तकार का मत तो इसी प्रकरण में पहले दिया हो जा चुका है। वेदान्त सूत्र १।१।३ पर जो ऊपर श्लोक दिया गया[1] है उसमें भी इस ऋ० ८।७५।६ मंत्र का ग्रहण किया गया है। श्री यत्ता के परम श्रद्धेय शंकराचार्य भी वेद की नित्यता मानते[2] हैं। वेद मंत्रों का प्रमाण भी उपस्थित करते हैं। महर्षि व्यास और जैमिनि तो वेद की नित्यता मानते[3] हो हैं। शाखाओं की नित्यता कहीं पर नहीं वर्णित की गई है। शाखायें व्याख्यान हैं। इस पर पूर्व इसी प्रकरण में लिखा जा चुका है। परन्तु संक्षेप में एक दो हेतु यहाँ पर दे देना उचित है। ऋग्वेद १०।५१।८ तथा १०।५१।९ मंत्र प्रयाजानुयाज के मंत्र हैं। यास्क ने निरुक्त ८।२२ पर इनका व्याख्यान किया[4] है। मैत्रायणी १।७।३।४ और काठक ९।१ पर

---

[1] विरूपनित्यया वाचेत्येवं नित्यत्वकीर्तनात्। वे० १।१।३ सूत्र पर

[2] ततश्च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभवः।

वेदान्त शां० १।३।२८

अतएव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवात् वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम्। तथा च मंत्रवर्णः यज्ञेन० पदवीयम्०।

वेदान्त १।३।२९

समान नाम रूपतां च श्रुतिस्मृती दर्शयतः—सूर्याचन्द्रमसौ धाता ऋ० १०।१९०।५।। वेदान्त शां० १।३।३०

"[3] पूर्व इसी प्रकरण में उद्धृत किया जा चुका है। अथवा मेरी पुस्तक वैदिक ज्योति" का वेद ज्ञान की नित्यता प्रकरण देखें।

[4] अथ किंदेवताः प्रयाजानुयाजाः। आग्नेया इत्येके............ आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया वै अनुयाजा इति च ब्राह्मणम्। छन्दोदेवतेत्यपरम्। छन्दांसि वै प्रयाजा छन्दांस्यनुयाजा इति च ब्राह्मणम्........ प्राणा वै प्रयाजा अपाना अनुयाजा इति च ब्राह्मणम् प्राणदेवतेत्यपरम्... प्राणा वै प्रयाजा अपाना अनुयाजा।[श० ११।२।६।२७...कौषीत की ७।१

"प्रयाज[1]" की विभक्तियाँ आदि लगाने का विधान है। वेद में सभी मंत्र यज्ञसम्बन्धी सभी विभक्तियों से युक्त नहीं होते हैं अतः इनमें विभक्तियाँ लगानी पड़ती हैं। इन दोनों शाखाओं के वाक्यों और इस सम्बन्ध के ब्राह्मणवाक्यों को यास्क के दिये सन्दर्भ से मिलान करने पर ये शाखायें व्याख्यान मालूम पड़ती हैं। यास्क ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर इनके अनेक देवता होने का यहाँ पर पक्ष उठाता है और अन्त में निश्चय करता है कि ये अग्नि देवता वाले हैं। ब्राह्मणों के आधार पर अग्नि, छन्द, ऋतु, पशु, प्राण और आत्मा इन प्रयाजानुयाज के देवता बनते हैं। यास्क ने इस स्थल पर ब्राह्मण वाक्यों का उद्धरण इन अर्थों की पुष्टि में स्वयं दिया है। यहाँ पर विस्तारभय से उन सबको नहीं लिखा जा रहा है। शतपथ ब्राह्मण १।३।६।१३ से १६ में इनका वर्णन पाया जाता है। बृहद्देवता ७।६१-७४[2] तक भी इसका वर्णन मिलता है। यास्क ने "आत्मा" देवता का वर्णन किया है वह भी तैत्तिरीयशाखा ६।११।५ में मिलता[3] है।

शाखायें व्याख्यान और मानुष रचना हैं इसका वर्णन शतपथ १।४।१।३३ में मिलता है। वहाँ पर लिखा गया है कि मानुष प्रयोग को नहीं पढ़ना चाहिए—अमानुष प्रयोग जैसा मूल वेद

---

[1] नानाग्नेयं क्रियत इत्याहुः कस्मात्सविभक्तयः............

(क) तेनाग्नेय तेन नानाग्नेयं क्रियते ॥ काठक ६।१

(ख) तस्मादग्निरेतावतीर्विभक्तीरानशे नान्या देवता......ऋतवो वै प्रयाजाः.........वीर्यं वै प्रयाजा.........मैत्रायणी १।७।३।४

[2] प्रयाजाश्चानुयाजाश्चेति बृहद्देवता ७।७२

[3] आत्मा वै प्रयाजाः प्रजाऽनुयाजाः—तै० शा० ६।११।५

में है वैसा ही पढ़ना [1]चाहिये। भाव यह है कि ऋग्वेद १।४४।७ मंत्र का मूल पाठ "होतारं विश्ववेदसम्" है। शाखा वाले इसके स्थान पर "होता यो विश्ववेदसः" पाठ करके पाठ पढ़ते हैं। याज्ञवल्क्य कहता है कि यह शाखा वालों का पाठ मानुष पाठ है अतः ऐसा न पढ़कर वेद वाला ही पाठ पढ़ना चाहिए। सायरण भी यहाँ पर कहता है "यथैव वेदे पठितं तथैवानुवक्तव्यम्— अर्थात् जैसा वेद में कहा गया है वैसा ही पढ़ना चाहिए।

इसके अतिरिक्त एक अन्य हेतु से भी वेद की शाखायें मूल वेद नहीं हो सकती हैं। शतपथ ब्राह्मरण काण्ड दश अध्याय चार ब्राह्मण दो और वाक्य २३, २४ तथा २५ में (श० १०।४।२।२३ २५) त्रयोविद्यास्थ ऋचाओं का परिमारण १२०००[1] बृहती छन्द परिमाण, इसी प्रकार यजुः का ८००० और ४००० वृहतो छन्द परिमारण साम का माना गया है। इस प्रकार चारों वेदों के २४००० बृहतो छन्द परिमाण ठहरते हैं। इनको ३६ से गुणा करने पर (२४००० × ३६ = ८६४०००) आठ लाख चौंसठ हजार अक्षर होते हैं। यह है चारों वेदों का अक्षर परिमारण। यदि शाखा और ब्राह्मरण भी वेद होते तो फिर इतनी अक्षर संख्या

---

[1]तदु हैकेऽन्वाहुः। "होता वो विश्ववेदस" इति नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति व्यृद्धं वै तद् यज्ञस्य यन्मानुसं नेदं व्यृद्धं यज्ञं करवाणीति तस्माद्यथैवर्चानूक्तमेवानुब्रूयाद् "होतारं विश्ववेदसम्"

[2]स ऋचो व्यौहत् द्वादशवृहतीसहस्राणि............ अथेतरौ व्यौहत् द्वादशवृहतीसहस्राणि........दश च सहस्राण्यष्टौ च शतान्य शीतीनाम्। (१०८०० × ८० = ८६४०००) शतपथ १०।४।२।२३-२५ सायरण भाष्य लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस सन् १९४०

किस प्रकार हो सकती। वह तो और भी कई गुना बढ़ जाती। इससे सिद्ध है कि शाखायें वेद नहीं हैं। निरुक्त आदि में अमुक वचन शाखा से ही आया है मूल वेद से नहीं—इसके निर्णय में भी लोग भाष्यकारों का सहारा लेते हैं। मूल ग्रन्थ के कर्त्ता को कुछ भी अभिप्रेत हो परन्तु उसकी धारणा का प्रमाण भाष्य से लिया जाता है। नवीन भाष्यकारों की स्थिति यह है कि कोई वस्तु कहीं पर मिली तो उसे लाकर बैठा दिया। निरुक्त ४।३ पर यास्क ने "शिताम्" पद की व्याख्या की है। यह पद मूल यजुर्वेद २१।४३ में पाया जाता है फिर भी न ज्ञात होने से दुर्ग ने तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।६।११ का उदाहरण दिया। अनन्तरवर्त्ती लोग समझते हैं कि यह मूल वेद में नहीं है।

इसी प्रकार यास्क २।६ पर लिखता है "सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः" इत्यपि निगमो भवति। यह मन्त्र मूल यजुर्वेद १८।४० पर पाया जाता है। शतपथ ६।४।१ और कात्यायन श्रौत सूत्र १८।५।१६ पर भी इसका उल्लेख मिलता है। आनंदाश्रम पूना से छपी हुई दुर्गवृत्ति निरुक्त की टिप्पणी में उसका लेखक लिखता है कि दुर्ग का पाठ किस संहिता में पाया जाता है—ज्ञात नहीं। (दुर्गस्वीकृतमन्त्रपाठः कस्यां संहितायां वर्तते इति न ज्ञायते=टिप्पणी पृष्ठ २२६ पर) मैत्रायणी शाखा २।१२।२, कपिष्ठल २९।३ में "स न" पाठ नहीं और तैत्तिरीय ३।४।७ में "नाम" पाठ नहीं तथा काठक शाखा १८।१४ पर "ताभ्यः स्वाहा वाट्" नहीं है। किस प्रकार लोगों को भ्रम होता है—इसका यह उदाहरण दिया गया।

ब्राह्मण वेदों के व्याख्यान हैं—वेद नहीं—

दयानन्दरहस्य पुस्तक के पृष्ठ ११७ से १४८ तक ब्राह्मण वेद हैं इस विषय को सिद्ध करने का लेखक ने अनायास ही

प्रयास किया है। उसके इस लेख में जो हेतु दिये गये हैं वे सर्वथा ही सारहीन और हेतुत्वविहीन हैं। इस लेख के लेखक की एक विशेषता यह है कि उसको स्वयं वेद और ब्राह्मण क्या है ? इस का लेशमात्र भी परिज्ञान न होते हुये भी वह महान् वेदज्ञ आचार्य और विद्वान् पर यह आक्षेप करता है कि इन्हें वेद के स्वरूप का ज्ञान नहीं है। उसने जिस अनौचितीपूर्ण खेदजनक भाषा का प्रयोग किया है वह एक निम्न स्तर की भाषा है। उसका उत्तर उसी प्रकार की भाषा में न देकर केवल आक्षेपों का ही समाधान यहाँ पर किया जाता है। आक्षेप निम्न प्रकार से उठते हैं—

(क) महर्षि की प्रदर्शित स्वयं प्रमाण और परतः प्रमाण की परिभाषा मीमांसा के विरुद्ध है। शतपथ आदि के जिन इतिहासों को वे प्रमाण मानते हैं उनके लिए वेद का प्रमाण नहीं मिलता क्योंकि उनके मतानुसार वेद में इतिहास नहीं है। बिना दर्शन की शिक्षा से परिष्कृत हुये की बुद्धि इस विषय का विचार नहीं कर सकती है।

(ख) यदि मंत्रभाग ईश्वर प्रणीत है तो ब्राह्मण भाग का प्रणेता भी ईश्वर ही है। शतपथ ब्राह्मण १४।५।४।१० का प्रमाण स्वामी जी ने काट छाँट कर लिखा है, वस्तुतः इसके अनुसार "उपनिषद्" पद के ईश्वर निःश्वास रूप होने से ब्राह्मण भी निश्वासरूप हैं क्योंकि उपनिषद् ब्राह्मण का ही भाग है।

(ग) यदि मंत्रों के विनियोग और कर्म की विधि ईश्वर न बतलाये तो विनियोग के अनेक दोष खड़े हो सकते हैं। वेद के अर्थ को भी ईश्वर ही बतलाता है अतः व्याख्यान होने पर भी ब्राह्मण वेद ही हैं।

(घ) "मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामध्येयम्" को कात्यायन का वचन न मानना स्वामी जी के ग्रन्थ से सिद्ध नहीं है। इस वचन,

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २४।१।३१, उनके यज्ञ परिभाषासूत्र ३१, सत्याषाढ़ २।६।२, कौशिकसूत्र १।३ और मीमांसा दर्शन २।१।३२ तथा ३३ सूत्रों और शबर भाष्य से ब्राह्मण का वेद होना सिद्ध है।

(ङ) मीमांसा दर्शन में जैमिनि मुनि ब्राह्मण भाग को मुख्य और मंत्रभाग को उसका अङ्ग समझते हैं। सूत्र १।२।१ में क्रिया या यज्ञ को वेद का मुख्य विषय बतलाया गया है। थोड़े वचनों के अतिरिक्त ब्राह्मण भाग के वचनों का अधिक प्रयोग इस शास्त्र में है। १।२।१; ११।२।४१; ६।१।३३, ६।७।२६; ३।६।२०; ४।४।३४; ६।१।५ सूत्रों में आम्नाय, वेद और श्रुति शब्दों का प्रयोग ब्राह्मण भाग के ग्रहण के लिए है।

(च) न्यायदर्शन २।१।५७ में किये गये आक्षेप के समाधान में दिये गये सूत्रों के भाष्य में जितने वचन उद्धृत हैं—वे सब ब्राह्मण भाग में ही मिलते हैं। वैशेषिक सूत्र ६।१।१ की व्याख्या और वाजसनेयी प्रातिशाख्य १।४ के भाष्य से भी, तथा सर्वानुक्रमणी की वृत्ति की भूमिका में भी ब्राह्मण का वेदत्व सिद्ध है।

(छ) आचार्य शंकर ने वेदान्त ३।१।५ सूत्र के भाष्य में उपनिषद् के वचन को वेद कहा है। मनु के ४।९८ वचन से, मेधातिथि भाष्य और मधुसूदन के प्रस्थानत्रय से भी ब्राह्मण का वेद होना सिद्ध है।

(ज) ऋलृक् सूत्र की व्याख्या में और पस्पशाह्निक १।१।१ में उद्धृत वचनों से महाभाष्यकार का ब्राह्मण को वेद मानना सिद्ध है। क्योंकि भाष्यकार का प्रयुक्त वाक्य "योऽग्निष्टोमेन" तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।११।५ में ही मिलता है—मूलसंहिताओं में नहीं।

(झ) पाणिनि ने ३।२।७३, ६।१।२०९ सूत्रों से और यास्क ने ३।२१।२ में "ग्नास्त्वा" और "अमेनान्" इत्यादि कथनों से ब्राह्मण को वेद माना है। निरुक्तालोचन के पृष्ठ २५ पर दिये गये "मंत्रान् संप्रादुः" और 'वेदं च' के अर्थ से भी यही सिद्ध होता है। यास्क ने २।३।१ पर "इत्यपि निगमो भवति" कहकर श्वेताश्वतर उपनिषद् को भी वेद स्वीकार किया है।

(ञ) स्वामी जी ने काशी शास्त्रार्थ में "मनो ब्रह्मेत्युपासीत्" पर जो उत्तर दिया और सत्यार्थ प्रकाश प्रथम संस्करण "यद्वै मनुरवदत्" वाक्य कह कर वेद में भी मनुस्मृति का प्रमाण मिलना लिखकर, तथा सत्यार्थप्रकाश में उपनिषदों के वचनों को ईश्वर नाम के वर्णन में मंत्र लिखकर इस पक्ष को पुष्ट कर दिया है—क्योंकि उपनिषद् भी ब्राह्मण के ही भाग हैं।

(ट) "समुदायेषु हि वृत्ताः शब्दा अवयेष्वपि वर्तमाना दृष्टाः" न्याय, और ब्राह्मण वसिष्ठ न्याय से भी ब्राह्मण वेद सिद्ध होते हैं।

(ठ) "छन्द" और "निगम" शब्द पाणिनि और यास्क के द्वारा "छन्दो ब्राह्मणानि" च तद्विषयाणि" और ' इत्यपि निगमो भवति" में मंत्रभाग के लिए प्रयोग किये गये हैं।

(ड) द्वितीया ब्राह्मणे अ० २।३।६० और चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि अ० २।३।६२ सूत्रों को देकर ब्राह्मण को वेद का वाचक मानने पर इनकी व्यर्थता का जो वर्णन ऋषि ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में किया है वह व्यर्थ है।

(ढ) जुष्टार्पितं छन्दसि ६।१।२०९ और नित्यं मंत्रे ६।१।२१० सूत्रों से पाणिनि जी का "छन्दसि" शब्द से ब्राह्मणभाग का ही ग्रहण करना सिद्ध होता है अन्यथा "मंत्रे" पद व्यर्थ जाता।

(ण) अथर्ववेद १५।११ मंत्र के "तमितिहासश्च पुराणम्"

मंत्र में इतिहास आदि का उल्लेख होने से मनुष्यरचित इतिहास और पुराण आदि से मंत्रभाग को पीछे बना हुआ मानना पड़ेगा। "त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य" मंत्र में जमदग्नि आदि का ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर चक्षुः आदि अर्थ दिखलाना ठीक नहीं है। "विद्वान्सो वै देवाः" का विद्वान् अर्थ लेना भी ठीक नहीं है, क्योंकि फिर तैत्तिरीय ब्राह्मण ६।३। यजमानो वै यूपः के आधार पर यजमान को ही यूप बनाकर जमीन में गाड़ना भी पड़ जावेगा। निरुक्त (१।२) में देवताओं का भिन्न होना बतलाया भी गया है। अतः मनुष्य से भिन्न चेतन देवता का अपलाप नहीं किया जा सकता। निरुक्त १०।१६ के "यद्यद्रूपं कामयते तद्देवता भवति; शतपथ २।२।२।६—इत्यादि वाक्यों को प्रमाण रूप में मानना चाहिए।

(त) निरुक्त ६।३० पर पं० राजाराम ने पराशर का अर्थ वसिष्ठकुलोत्पन्न और इन्द्र का वाचक माना है। ये अर्थ क्रमशः ऋग्वेद ७।८।२१ और ७।१०४।२१ मंत्रों में आये पराशर पद के हैं। चारों मूल वेदों में जमदग्नि का "चक्षुः" नाम होना नहीं है। शतपथ के आधार पर यह अर्थ करना ठीक नहीं है। यदि एक स्थल पर शतपथ से कश्यप को प्राण बनाया जा सकता है तो दूसरे स्थल पर वसिष्ठ को भी प्राण बनाया जा सकेगा। फिर तो बृहदारण्यकोपनिषद् के 'ओं खं ब्रह्म' शब्दों के आधार पर आकाश को ब्रह्म मानना पड़ेगा और इससे आकाशभिन्न चेतन ब्रह्म कोई वस्तु नहीं ठहरेगा। वागेवर्ग्वेदः १।५।५ के आधार पर स्वतंत्र वेद की कोई सत्ता ही नहीं रह जावेगी। अतः शतपथ के निर्वचन से जमदग्नि का अर्थ चक्षुः के समान जमदग्नि होगा।

(थ) वेदों में इतिहास की सत्ता बहुतायत से मानी गई है,

पराशर (वसिष्ठ कुलोत्पन्न) निरुक्त के आधार पर ऋ० १।१०५।१७ में कुएँ में गिरे त्रित, के वर्णन और "तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रम्" आदि वाक्यों से प्रकट होता है कि वेदों में इतिहास है। निरुक्त-कार बहुतायत से इतिहास मानता है। स्वामी जी का गंगा, यमुना, नदियों का वर्णन वेद में मान लेना, ऋगादि चार वेदों का ईश्वर से उत्पन्न होने का इतिहास मान लेना क्या वेदों में इतिहास का मानना नहीं है। "अथर्वाङ्गिरसो मुखम्" में इतिहास की झलक अवश्य है। अतः इतिहास ब्राह्मणों में मिलता है, अतः ब्राह्मण वेद नहीं—यह तर्क गलत है।

(द) इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी—ये ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम हैं, यह ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का कथन, और आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।३।१।३ ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा आदि को संज्ञा-संज्ञी भेदसे लगाना ठीक नहीं। गृह्यसूत्र के भाष्य-कार नारायण और तैत्तिरीय आरण्यक के भाष्यकार सायण ने इन्हें भिन्न अर्थों में लगाया है। तैत्तिरीय आरण्यक अनुवाक ११ ने तो इसे और स्पष्ट कर दिया है। शतपथ ११।५।६।८ "इतिहासः पुराणम्" और गोपथ "छिद्रो हि यज्ञो०" प्रमाणों से इनका पर-स्पर भिन्न होना ही पाया जाता है। वात्सायनभाष्य न्यायदर्शन के (४।१।६२) "अन्यो मंत्रब्राह्मणस्य विषयः" से भी इन सबकी पृथक्ता ही प्रकट होती है।

आक्षेपों का समाधान

ऊपर "क" से "द" पर्यन्त क्रमों में दयानन्द रहस्य के लेखक के समस्त आक्षेपों का संग्रह संक्षेप में कर दिया गया और अब क्रमशः उनका समाधान यहाँ पर किया जाता है।

(क) महर्षि दयानन्द सरस्वती अपनी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य प्रकरण में लिखते हैं कि "ये ग्रन्थाः वेद विरोधिनो वर्त्तन्ते नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्त्तुं योग्यमस्ति। वेदानां तु खलु अन्येभ्यो ग्रन्थेभ्यो विरोधादप्यप्रामाण्यं न भवति तेषां स्वतः प्रामाण्यात्तद्भिन्नानां ग्रन्थानां वेदाधीनप्रामाण्याच्च ॥ ये स्वतः प्रमाणभूताः मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्तास्तद्भिन्नास्तद्व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्था वेदानुकूलतया प्रमाणमर्हन्ति ॥ अर्थात् जो वेद विरोधी ग्रन्थ हैं उनको प्रामाणिकता स्वीकार करने योग्य नहीं है। वेदों की अन्य ग्रन्थों से विरोध होने से भी अप्रमाणिकता नहीं होती है क्योंकि वे स्वतः प्रमाण हैं और उनसे भिन्न ग्रन्थ वेदाधीन प्रमाण वाले हैं। जो स्वतः प्रमाणभूत मन्त्रभागः संहिताओं के नाम से चारों वेद कहे गये हैं उनसे भिन्न उनके व्याख्यानभूत ब्राह्मण ग्रन्थ वेदानुकूलतया प्रमाण के योग्य होते हैं।" पुनः "ये ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतः प्रमाणं कर्त्तुं योग्या सन्ति। ये जीवोक्तास्ते परतः प्रमाणार्हश्च।" अर्थात् जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ हैं वे स्वतः प्रमाण हैं और जो जीवोक्त (ग्रन्थ) हैं वे परतः प्रमाण के योग्य हैं। यह है महर्षि का वाक्य जिस पर "यक्ता" को आक्षेप है। यहाँ पर स्पष्ट है कि ईश्वरोक्त होने से वेद स्वतः प्रमाण हैं अर्थात् उसके प्रामाण्य के लिए किसी अन्य ग्रन्थ के प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं है। जीवोक्त होने और वेदों के व्याख्यान होने से ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रामाणिकता वेदों के अनुकूल होने पर हो सकती है। विपरीत होने पर नहीं।

यहाँ पर महर्षि ने स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण का कथन किया है। वेद स्वतः प्रमाण है, ब्राह्मण आदि परतः प्रमाण हैं। श्रीरामचन्द्र यक्ता ने जो आपत्ति इसमें उठायी है वह अनर्गल है। उनका कथन है कि वेद के अनुकूलत्व और प्रतिकूलत्व के

निर्णय में वेद वाक्य की सत्ता आवश्यक है। बिना उसके ऋषि मुनियों के वाक्य के अनुकूलता प्रतिकूलता की तुलना नहीं हो सकेगी। यदि यह मान लिया जावे कि वेद वाक्य की सत्ता तुलना के लिए आवश्यक है तो फिर जिन ऋषियों के वचन की तुलना के लिए वेद का वाक्य नहीं मिलेगा उस को न प्रमाण ठहराया जा सकेगा न अप्रमाण ऐसा होने पर ऋषि-मुनियों के वाक्यों का कोई मूल्य नहीं रह सकेगा। अतः मीमांसा का यह सिद्धान्त है कि ऋषि मुनियों के जो वचन वेद के कथन के विरुद्ध हैं वह अप्रमाण हैं और जो विरुद्ध नहों हैं वह प्रमाण हैं।

यहाँ पर रामचन्द्र जी से यह पूछना चाहिये कि ऋषि मुनियों के जो वचन विरुद्ध नहीं हैं क्या उनके निर्णय के लिए वेद वाक्य की सत्ता की आवश्यकता नहीं है ? यदि नहीं है तो फिर वह विरुद्ध नहों हैं—इसका निर्णय किस प्रकार होगा। यदि इसके निर्णय के लिए वेद वाक्य की सत्ता की आवश्यकता नहीं है तो क्या आप इन वाक्यों को स्वतः प्रमाण बताना चाहते हैं। मैं पूछता हूँ कि आपके ऋषि-मुनियों के वचन स्वतः प्रमाण हैं अथवा परतः प्रमाण। यदि स्वतः प्रमाण हैं तो फिर हेतु देना पड़ेगा। जो आप से कभी बन नहीं सकता। यदि आप उन्हें परतः प्रमाण मानते हैं तो बतलाना पड़ेगा कि यह परतः प्रमाणता किस की अपेक्षा से है। आप का यह कहना कि वेद से ऋषियों के वचन के लिए वाक्य न मिलने पर वे न प्रमाण और न अप्रमाण कहे जा सकेंगे—सर्वथा ही बुद्धि के दीवाले का संकेत करता है। न्याय शास्त्र के नियम से कोई भी वस्तु प्रमाण हो अथवा अप्रमाण हो—इसी कोटि में आती है। प्रमाण, अप्रमाण दोनों अथवा दोनों के अतिरिक्त तो हो नहीं सकती है। यदि कोई वस्तु न प्रमाण है और न अप्रमाण—तो फिर वह है क्या और उसके ग्रहण अथवा

परित्याग में प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी। यदि किसी ऋषि मुनि के वाक्य का प्रमाणीकरण वेद से नहीं होता है तो वह अप्रमाण ही है। और प्रमाणाप्रमाण के निर्णय के लिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का भी तो प्रयोग किया जा सकता है। इनसे उसका निर्णय कर लिया जावेगा। प्रमाण आदि से निर्णय करना वेद के अनुकूल ही है। ऋषि है ही वही जो मंत्र का द्रष्टा और सदसद्, आत्म, अनात्म को जानता है। जो ऐसा नहीं वह अनृषि है और ऋषिवत् प्रमाण के योग्य नहीं। स्मृति कहते ही उसको हैं जो श्रुति के अर्थ का स्मरण करावे (श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्)। फिर स्मृति की स्वतः प्रमाणता किस प्रकार हो सकती है। ब्राह्मण हैं ही वेद के व्याख्यान फिर उनकी प्रामाणिकता वेद पर ही आधारित करनी पड़ेगी। आप्त को प्रमाण अनाप्त को अप्रमाण मानना चाहिए।

जिस मीमांसा दर्शन का नाम लिया जा रहा है वह भी वही बात कहता है जो महर्षि कह रहे हैं। मीमांसा दर्शन[1] १।१।५ सूत्र में वेद को स्वतः प्रमाण स्वीकार किया गया है। वहाँ पर सूत्र में लिखा गया है कि वैदिक शब्दों का अर्थ के साथ औत्पत्तिक नित्यसम्बन्ध है। अतः वेद का उपदेश सृष्टि नियम के विरुद्ध नहीं है और वह किसी भी अन्य प्रमाण की आवश्यता नहीं रखता है —ऐसा वादरायण का मत है। यहाँ पर जैमिनि और उनके गुरु दोनों ही वेद को स्वतः प्रमाण मान रहे हैं। मीमांसा प्रथमाध्याय के तृतीय पाद में भी श्रुति की अपेक्षा स्मृति को[2] परतः प्रमाण

---

[1] औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः० ॥ मीमांसा १।१।५

[2] धर्मस्य शब्दमूलत्वात् अशब्दमनपेक्षं स्यात्········अपि वा कर्तृसामान्यात्०······विरोधे त्वनपेक्ष्यं० ॥ मीमांसा १।३।१-३

ही स्वीकार किया गया है। शबरस्वामी इस पर लिखते हैं कि "जो दृष्टार्थ हैं वे उनसे ही प्रमाणीभूत हैं और जो अदृष्टार्थ हैं उनमें वेदवाक्यों की प्रमाणता कर लेनी चाहिए[1]"। इससे स्मृति की प्रमाणता में वेद की अपेक्षा है। श्रौत का अर्थ भी यही है कि जो श्रुति प्रतिपादित हो। फिर यह स्वतः प्रमाण हो हो कैसे सकता है। जब जैमिनि प्रथम सूत्र में ही वेद को स्वतः प्रमाण कह चुका है तो तीसरे पाद में उसके विरुद्ध कैसे जावेगा। ऋषियों का प्रामाणिकत्व उनकी आप्तता पर निर्भर है और वह वेद की अपेक्षा रखती है। यक्ता के परम माननीय आचार्य शंकर ने भी वेदान्त १।३।२८ के भाष्य में वेद को स्वतः प्रमाण ही माना है। वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष से श्रुति का ग्रहण है क्योंकि वह प्रामाण्य के प्रति अनपेक्ष है। अनुमान से स्मृति का ग्रहण है क्योंकि वह प्रमाण के प्रति सापेक्ष है। (प्रत्यक्षं श्रुतिः प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्॥ शांकर भाष्य १।३।२८

"यक्ता" का यह कहना है कि निरुक्त और ब्राह्मणों में कहे गये इतिहासों को स्वामी जी ने प्रमाण माना है—परन्तु वेद में इतिहास न मानने से वेद का प्रमाण इस विषय में न हो सकने से—वह ठीक नहीं। यह कथन भी सुतराम् व्यर्थ है क्योंकि वेद में इतिहास विज्ञान का वर्णन हो सकता है—इतिहास के पात्र व्यक्तिविशेषों का अथवा इतिहास के ग्रन्थ का नहीं। ऐतिह्य एक प्रमाण है और इसकी प्रामाणिकता में प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रवृत्त करके निर्णय किया जा सकता है। चूंकि वेद ने विज्ञान का वर्णन कर दिया है अतः इतिहास लिखना अप्रमाण नहीं है।

---

[1]तेन ये दृष्टार्थास्ते ततः एव प्रमाणम्। ये त्वदृष्टार्थास्तेषु वैदिकशब्दानामनुमानम्। शबर भाष्य १।३।१

यह है यत्ता की दर्शन के अध्ययन से परिष्कृत बुद्धि जो खण्डन करने चली दूसरे का और स्वयं खण्डित हो उठी। ऐसी दार्शनिक प्रज्ञा को लोग अवश्य धन्यवाद देंगे जो अश्वमण्डूकी न्याय का विषय बनकर स्वयं अपना उपहास करा लेवे। घोड़े को नाल लगाते देखकर मण्डूको भी नाल ठुकाने लगे कितनो विचित्र बात है।

(ख) यदि मंत्र भाग ईश्वरप्रणीत है तो ब्राह्मणभाग का प्रणेता भी ईश्वर है—यह कितना सुन्दर तर्क है। इस पर तो जितनी प्रशंसा की जावे थोड़ी है। इसका तो अर्थ यह हुआ कि पृथ्वी को परमेश्वर ने बनाया तो घड़े और कुल्हड़ को भी उसी ने बनाया। खैरियत है कि यह नहीं कह दिया कि ईश्वर ने यदि वेद बनाया तो श्री मद्भागवत आदि भी उसी ने बनाये।

शतपथब्राह्मण के प्रमाण को भी महर्षि ने काट छाँट कर नहीं लिखा है। जितने भाग की आवश्यकता समझी जाती है उतना हो लिखा जाता है। उस प्रमाण के पूरे भाग से भी आप की बात नहीं सिद्ध हो सकती है। शतपथ १४।५।४।१० के पूरे प्रमाण[1] में इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान-पद पड़े हैं। वेद की तरह ये सभी ईश्वर के निःश्वसित हैं अतः उपनिषद् के ब्रह्मणान्तर्गत होने में ब्राह्मण भी ईश्वरकृत हो जावेंगे—यह यहाँ पर सिद्ध नहीं हो सकेगा।

---

[1]एवं वा अरेऽस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतहग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैव एतानि सर्वाणि निःश्वसितानि। शतपथ १४।५।४।१०—ऐसा ही मिलता जुलता पाठ १४।६।१०।६ में पाया जाता है।

इसका अर्थ यदि यत्ता जी महर्षिकृत अर्थ के ढंग पर लगाते हैं तो ये उपनिषद् आदि ब्रह्म के निश्वास नहीं ठहरते। क्योंकि ऋषि ने अर्थ करते हुये "महतः आकाशादपि वृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशात्" अर्थात् "आकाश से भी महान् परमेश्वर के समीप से" ऋग्वेदादि निःश्वसित हुये, ऐसा लिखा है। इस अवस्था में अर्थ यह बनेगा कि "आकाश से भी महान् व्यापक परमेश्वर के सकाशाद् =समीप से भूतस्य=ज्ञानी प्राणी के निःश्वसित ये ऋग्वेदादि हैं। यहाँ भाव यह स्पष्ट होता है कि परमात्मा के समीप अर्थात् उस की निमित्तता और समीपता से ऋषि के द्वारा श्वास की भांति इस का विस्तार हुआ। परमात्मा ने वेद का ज्ञान ऋषियों को दिया और उन्होंने उपनिषद् आदि सबका विस्तार किया। इसमें वेद का कर्त्ता परमेश्वर है—इस प्रक्रिया में भी दोष नहीं आता है। यदि वे इसका यह अर्थ करें कि ये सब परमात्मा के निःश्वसित हैं तो इस अवस्था में भी उनका अर्थ नहीं बनता है। क्योंकि यहाँ पर उपनिषद् और व्याख्यान आदि शब्दों से इन विज्ञानों का ग्रहण है उपनिषद् और व्याख्यान के ग्रन्थों का नहीं। ज्योतिष का ज्ञान वेद में परमेश्वर देता है परन्तु षडङ्ग में बने सूर्य-सिद्धान्त आदि ग्रन्थों को उसने दिया—यह उसका अर्थ नहीं होता। यही प्रक्रिया यहाँ पर भी है कि इन विद्याओं का ज्ञान तो उसका निःश्वसित है—ग्रन्थ नहीं। फिर शतपथादि ब्राह्मण अर्थ यहाँ पर नहीं निकल सकता है। अतः ब्राह्मणों को परमेश्वर-कृत कहना अथवा वेद को ऋषिकृत कहना—दोनों ही बातें यहाँ पर सिद्ध नहीं होती हैं।

(ग) यदि वेद मंत्रों के कर्म और विनियोग की विधि ईश्वर न बतलावे तो विनियोग के अनेक दोष खड़े हो सकते हैं अतः वेद के अर्थ (ब्राह्मण) को भी परमेश्वर ही बतलाता है—यह "यत्ता"

का कथन है। इससे वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि वेदों के व्याख्यान ब्राह्मण भी ईश्वरकृत हैं। परन्तु उन को इस बात का पता नहीं कि यह कार्य कल्पविज्ञान का है। कल्पविज्ञान छः अङ्गों में एक है। जहाँ तक इस विद्या अथवा इस विज्ञान का सम्बन्ध है,[1] वेद में वर्णन है और उसी आधार पर इस अङ्ग की रचना हुई। परन्तु अमुक मंत्र का अर्थ यह है और अमुक मंत्र से अमुक कर्म किये जावें—यह परमेश्वर के करने का कार्य नहीं है। एक ही मंत्र के अनेक अर्थ हो सकते हैं भिन्न भिन्न प्रक्रियाओं में, और एक ही मंत्र का गृह्य और श्रौत कर्म की दृष्टि से भिन्न भिन्न कर्मों में विनियोग हो सकता है। ऐसी स्थिति में परमेश्वर इन सबको बतलावे तो फिर ब्राह्मण ही क्यों वेदाङ्ग और उपाङ्ग को भी वही बनावे। किसी वाक्य का अर्थ कोई कुछ करता है और दूसरा उसी का अन्यार्थ करता है। परमेश्वर मनुष्य के किये इन सारे अर्थों को किस प्रकार बतावेगा और यदि बताता है तो फिर अर्थ के निश्चित हो जाने से दूसरा अर्थ भी कोई नहीं कर सकता है—जिस प्रकार दूसरा वेद कोई नहीं बना सकता है। यदि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद के अर्थ हों और परमेश्वर के बनाये हैं तो फिर उन में संपूर्ण वेद राशि का अर्थ और विनियोग होना चाहिए—परन्तु ब्राह्मणों में समस्त वेद का अर्थ है नहीं।

यदि विनियोग को परमेश्वर ने बताया है और जो विनियोग किये हुये मिलते हैं वे परमेश्वर के बताये माने जावें तो उन में गड़बड़ी और परस्पर विरोध नहीं होना चाहिए। परन्तु एक श्रौत एवं गृह्य सूत्र अथवा ब्राह्मण में जो एक मंत्र से विनियोग है उसी मंत्र से दूसरे में अन्य विनियोग है। "समंजन्तु विश्वेदेवाः"

[1] देखें मेरी पुस्तक वैदिक ज्योति का "विनियोग" प्रकरण।

ऋग्वेद १०।८५।४७ मंत्र पारस्कर में[1] वर-वधू के संमुखीकरण में विनियुक्त है। परन्तु आश्वलायन गृह्यसूत्र में यह मंत्र वर के दधि खाने अथवा वधू-वर के हृदयस्पर्शन में विनियुक्त[2] है। इसी प्रकार सब गृह्यसूत्रों और श्रौतसूत्रों का मिलान करने पर विनियोग में परस्पर भेद मिलता[3] है।

लेखक ने लिखा है कि विनियोग ईश्वर न बतलावे तो विनियोग के अनेक दोष खड़े हो सकते हैं। मेरा यह कहना है कि वे दोष वर्तमान विनियोगों में हैं और इसी कारण से कहा भी जा रहा है कि ब्राह्मणग्रन्थ आदि ईश्वर के रचित नहीं हैं। मंत्रस्थ वाक्य जैसा है वैसा पढ़े "होता वो विश्ववेदसः" न पढ़े—इत्यादि उदाहरण शाखा के प्रकरण में शतपथ ब्राह्मण से दिया जा चुका है। यदि ईश्वर कृत ब्राह्मण हैं तो यह विरोध क्यों है। अथवा यह दोष क्यों है? ऋग्वेद ८।१०१।१५ मंत्र "माता रुद्राणाम्" में अन्तिम पद "मा गामनागामदितिं वधिष्ठ" है जिस में गौ के मारने का निषेध है। परन्तु तैत्तिरीय आरण्यक में लिखा है कि 'माता रुद्राणामिति द्वाभ्यामुत्सृजन्ति" अर्थात् "माता रुद्राणाम्" इस मंत्र और "पिबतूदकम्" इस मंत्र से गाय को (खूँटे) से छुड़ाते हैं। सायण ने भी लिखा है कि "सूत्रितं च—माता

---

[1]अथैनौ समञ्जयति "समञ्जन्तु विश्वेदेवा०...पारस्कर गृ—१।४।१४

[2]"समञ्जन्तु" इत्येषा वरस्य दधिप्राशने वधूवरयोर्हृदयस्पर्शने वा विनियुक्ता तथा च सूत्रितं समञ्जन्तु विश्वेदेवा इति दध्नः प्राश्य ......वानक्ति हृदये (आश्वलायन गृ. १।८।६) सायणभाष्य। ऋ. १०।८५।४७

[3]देखें मेरी पुस्तक वैदिक ज्योति का विनियोग प्रकरण।

रुद्राणां दुहिता वसूनामिति जपित्वोमुत्सृजतेत्युत्स्रक्षन्-आ० गृह्य-सूत्र १।२४।२५) । श्री वायुनन्दन मिश्र लिखित विवाह् पद्धति जो मास्टर खेलाडो लाल एण्ड सन्स बनारस से प्रकाशित है उसमें भी देखें कि इसका विनियोग किस रूप में किया गया है और फुटनोट में लिखा गया है पाराशरस्मृति के श्लोक (अश्वालम्भः गवालम्भः) को देकर कि कलियुग में गो मारना वर्जित है, अतः उपलक्षण के लिए इस मंत्र से तृण मात्र छोड़ दिया जाता है। यजुर्वेद २३।२० मंत्र का अन्तिम पद है "वृषा वाजो रेतोधा रेतो दधातु ।" इस का विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र २०।६।१६ में किया गया है कि "वृषा वाजी" मंत्र से महिषी=रानो घोड़े के शिश्न को अपने उपस्थ में डालती[1] है। शतपथ १३।५।२।२ का प्रमाण भी कर्काचार्य ने दिया है। महोधर तो और भो इस पर कमाल कर देते हैं। वे कहते हैं कि[2] महिषी स्वयं अश्वके शिश्न को खींच कर अपनी योनि में स्थापित करती है। महीधर ने भी इसी कात्यायन श्रौतसूत्र का प्रमाण दिया है। इसके अतिरिक्त कात्यायन श्रौतसूत्र १।१।१५-१७ में गर्दभेज्या का वर्णन[3] है । क्या इन सब को दोष नहीं कहा जा सकता है। यदि यक्ता जी इन्हें दोष मानते हैं तो उनका यह कहना क्या अर्थ रखता है कि विनियोग और अर्थ भी ब्राह्मण के रूप में परमेश्वर के दिये हुये हैं। यदि ब्राह्मणों में दिये गये वेद के अर्थ को ही परमेश्वर ने बतलाया है तो फिर ये दोषपूर्ण अर्थ उनमें कहाँ से आ गये हैं।

---

[1] अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति । का० २०।६।१६ इस पर कार्क भाष्य भी देखें। शतपथ १३।५।२।२ में यह वर्णित है।

[2] महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति । महीधर भाष्य २३।२०

[3] शिश्नात्प्राशित्रावदानम् ।। का० श्रौ० सूत्र १।१।१७

(घ) "मंत्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" आदि से भी ब्राह्मणों का वेद होना सिद्ध नहीं हो सकता है। एक ओर तो आप यह कहते हैं कि यह कात्यायन का वचन है—महर्षि इसे कात्यायन का वचन मानते हैं और दूसरी तरफ आप ही यह भी कहते हैं कि वे कहते हैं कि यह कात्यायन का वचन नहीं हो सकता है। यह आप की विचित्र ही लीला है। महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदसंज्ञाविचार प्रकरण में यह लिखा है कि कात्यायन से भिन्न ऋषियों ने ब्राह्मण को वेद नहीं माना है। इस का अर्थ यहाँ पर यह है कि यदि यह दुर्जनतोषन्याय से मान भी लिया जावे कि मंत्र और ब्राह्मण दोनों को कात्यायन वेद मानते हैं तो इन से भिन्न ऋषियों (जिनका प्रमाण वेदोत्पत्ति विषय से लेकर इस विषय पर्यन्त दिया गया है उन शास्त्रों और भाष्यों के कर्त्ता ऋषियों) ने नहीं माना है। ये हैं वे प्रमाण जिनसे सिद्ध किया गया है कि ब्राह्मण वेद नहीं हैं। महर्षिसत्यार्थप्रकाश में इन्हीं प्रमाणों का निर्देश करते हुये लिखते हैं। वहाँ (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में) अनेकों प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन नहीं हो सकता है—ऐसा ही सिद्ध किया गया है। उनका तात्पर्य उन सभी प्रमाणों से है जो कात्यायन के अतिरिक्त हैं और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदोत्पत्ति से लेकर वेदसंज्ञा विचार तक दिये गये हैं अथवा संपूर्ण ग्रन्थ में दिये गये हैं। महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ३६५ (दयानंदग्रन्थमाला शताब्दी संस्करण) पर लिखते हैं "कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात्सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा संमतेति विज्ञायते। एवमपिन सम्यगस्ति। कुतः। एवं तेनानुक्तत्वादतोऽन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात्—अर्थात् ब्रह्म=वेद के साथ सहचरित भाव से सहचारोपाधि मान कर यदि कात्यायन ने ब्राह्मणों की

वेदसंज्ञा मानो हो तो भी ठीक नहीं क्योंकि न ऐसा उन्होंने कहा है और न अन्य ऋषियों ने ऐसा ग्रहण ही किया है। यहाँ पर "एवं तेनानुक्तत्वाद्" का अर्थ यह नहीं है कि "मंत्रब्राह्मणयोः" सूत्र उन के द्वारा नहीं कहा गया है। बल्कि इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म=वेद के सहचार से सहचारितोपाधि से ब्राह्मण का वेद होना उन्होंने नहीं कहा है। सत्यार्थ प्रकाश में लिखे वाक्य "यह कात्यायन का वचन नहीं हो सकता" का अर्थ यह है कि यह कात्यायन का वचन प्रमाण नहीं हो सकता है। अथवा यह कहा जा सकता है कि कात्यायन की प्रतिष्ठा को रखने के लिए यह कहा कि ऐसा विरुद्ध वचन कात्यायन ऋषि का नहीं हो सकता, बाद का मिश्रण भी हो सकता है।

"मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" यह सूत्र कात्यायन प्रतिज्ञा परिभाषा १।१, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २४।१।३१; सत्याषाढ श्रौतसूत्र १।१।७ में इसी रूप में मिलता है। परन्तु बौधायनगृह्यसूत्र २।६।३, में "मंत्र ब्राह्मणयोर्वेद इत्याचक्षते" तथा षड्गुरुशिष्य के सर्वानुक्रमणी के भाष्य में "मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः" और कौशिक सूत्र १।३ में "आम्नायः पुनर्मंत्राश्च ब्राह्मणानि च" पाठ मिलते हैं। इनमें "नामधेयम्", "आहुः" और "आचक्षते" पद मिलते हैं। ये स्पष्ट प्रकट करते हैं कि मंत्र और ब्राह्मण वस्तुतः वेद नहीं हैं बल्कि इनका ऐसा नामधेय किया जाता है और ऐसा कहे जाते हैं। ऐसे पदों का प्रयोग तभी किया जाता है जब कोई परिभाषा बनानी होती है। वस्तुतः मंत्र ही वेद हैं परन्तु याज्ञिकों ने मंत्र और ब्राह्मण दोनों को यज्ञार्थ परिभाषा से वेद कहा है। यह यज्ञ की एक परिभाषा मात्र है—सामान्य सिद्धान्त नहीं। गोपथ के एक वाक्य से इसकी पुष्टि इस

प्रकार होती है—

"जो[1] पूर्व की नदियाँ बहती हैं, जो दक्षिण को और जो उत्तर तथा पश्चिम की—सभी का पृथक् नामधेय है। परन्तु जब ये समुद्र में मिल जाती हैं तब सब का "समुद्र" नाम पड़ जाता है—इसी प्रकार समस्त वेद, कल्प ब्राह्मण आदि का यज्ञ में नामधेय छिन्न हो जाता है और यज्ञ कहा जाता है।" इससे स्पष्ट है कि यह याज्ञिकों ने एक परिभाषा बना ली है। वस्तुतः ब्राह्मण वेद नहीं हैं— वेद के व्याख्यान ही हैं।

मीमांसा दर्शन २।१।३२ और ३३ सूत्रों से ब्राह्मण का वेद होना नहीं सिद्ध होता है। यहाँ पर २।१।३०[2] सूत्र में पूर्वपक्ष उठाया गया है कि "यजति", ददाति आदि क्रियासूचक वाक्यों से जिस प्रकार ब्राह्मणों में विधायकता पायी जाती है – वैसे ही मंत्रों में भी पायी जानी चाहिए क्योंकि शब्द का धर्म तो दोनों में एकसा ही है। फिर ब्राह्मण विधायक और मंत्र अभिधायक क्यों ? इसका उत्तर ३१वें सूत्र में दिया गया है कि मंत्र अभिधायक हैं अतः उसमें आया क्रिया पद विधायक नहीं। मंत्र का फिर लक्षण क्या है ? इसका समाधान ३२वें सूत्र में दिया गया है। बताया गया है कि अभिधान एवं विधान की प्रेरणा देने वाले मंत्र हैं। इस से शेष ब्राह्मण है—अर्थात् जो विधान और

---

[1]तद्याः प्राच्यो नद्यो वहन्ति याश्च दक्षिणाच्यो याश्च प्रतीच्यो...... समुद्रमभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं समुद्र इत्याचक्षते........एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सहब्राह्मणाः........यज्ञमभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयम्—यज्ञ इत्याचक्षते। गो० पू० २।१०

[2]विधिमंत्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्। ३०; अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मंत्रोऽभिधानवाचीस्यात् ३१। तच्चोदकेषु मंत्राख्या; शेषे ब्राह्मण शब्दः॥ मीमांसा २।१।३०-३३

अभिधान का प्रेरक नहीं अपितु विधान का बतलाने वाला है वह ब्राह्मण है। यहाँ पर ब्राह्मण का वेद होना पाया ही नहीं जाता है। यदि मंत्र और ब्राह्मण एक होते और इसका सूत्र में यहाँ पर प्रतिपादन होता तो फिर आगे चलकर मंत्रों के प्रकारभूत ऋक्, यजुः और साम के लक्षण करने की (३५, ३६, ३७ सूत्रों में) आवश्यकता ही क्या थी। शबर भाष्य कोई आर्ष भाष्य नहीं है। साथ ही जब मूल के विरुद्ध वह कह रहा है तो उसका प्रमाण ही क्या हो सकता है।

(ङ) मीमांसादर्शन में जैमिनि मुनि ब्राह्मण भाग को मुख्य और मंत्र भाग को उसका अङ्ग मानते हैं—यह बात बिल्कुल ही अनर्गल और निराधार है। मीमांसा का ऐसा कोई प्रमाण नहीं उद्धृत किया जिससे ब्राह्मण भाग की मुख्यता और मंत्र भाग की गौणता सिद्ध हो। मीमांसा १।२।१ सूत्र में क्रिया या यज्ञ को वेद का विषय नहीं बतलाया गया है। जैसा पूर्व वेदार्थ का वर्णन करते हुए निरुक्त आदि द्वारा दिखलाया जा चुका है कि वेद के अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञ—तीन प्रक्रियाओं में अर्थ होते हैं। अतः यज्ञ वा कर्मकाण्ड को वेद का मुख्य विषय कहना कहने वाले की अपनी अनभिज्ञता का द्योतक है। यदि वेद केवल क्रिया प्रधान है तो फिर उपनिषद् आदि विद्याओं का जन्म कहाँ से हुआ और वेदान्तदर्शन के सिद्धान्त कहाँ से निकल आये। जैमिनि ने कहीं पर भी ऐसा नहीं माना है कि वेद का क्रिया वा यज्ञ ही मुख्य विषय है। १।२।१ सूत्र में यह पूर्वपक्ष उठाया गया है कि "आम्नाय"[1] क्रिया मात्र के लिए है अतः जिन मंत्रों में क्रिया का वर्णन नहीं है वे अनर्थक हैं और इस कारण वेद अनित्य भी है।

---

[1] आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्० ॥ मी० १।२।१

यह पूर्वपक्ष इसलिये उठाया गया है कि १।१।५ सूत्र में वेद शब्दों का सृष्टि के पदार्थों के साथ नित्य सम्बन्ध जैमिनि ने वादरायण के मत से स्थापित कर दिया है। इस पूर्व पक्ष का उत्तर भी अगले सूत्रों में दे दिया गया है। और यह स्थापित किया गया है कि वेद अर्थ वाले हैं निरर्थक और केवल यज्ञार्थक नहीं। यास्क ने कौत्स के मत को उठा कर जिस प्रकार वेद का अथ वाला होना सिद्ध किया है—वैसे ही जैमिनि ने भी यहाँ पर पूर्व पक्ष उठा कर वेद को अर्थ वाला सिद्ध किया है। अन्यथा मीमांसा १।२।३४-३९ सूत्रों[1] से पूर्व पक्ष उठा कर उत्तर देने की आवश्यकता हा क्या थी। जब वेद का लक्षण जैमिनि ने कर ही दिया है और उसका सृष्टि के पदार्थों के अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध माना है तथा स्वतः प्रमाण स्वीकार किया है तो फिर ब्राह्मण को वह वेद कैसे कह सकता है। ३९वें सूत्र में तो मंत्रानर्थक्यम् पद ही पड़ा है। अगर नवीन भाष्यकार वेद आदि शब्दों के आने पर ब्राह्मण वचनों के प्रमाण देते हैं तो यह उन का दोष है—जैमिनि का यह अभिमत है—ऐसा तो नहीं कहा जा सकता है। वहाँ पर वेदों से ही उद्धरण देना चाहिए था। किसी शास्त्र में अगर वेद को कोई पारिभाषिक प्रयोग बना लिया जावे तो उससे भी यह नहीं सिद्ध होता है कि वह ब्राह्मण को वेद मान रहा है। मीमांसा १।२।१ में आम्नाय का अर्थ मंत्रभागात्मक वेद ही है। वहाँ वह ब्राह्मण अर्थ में नहीं प्रयुक्त है। ६।१।३३ में

---

[1] अविद्यमानवचनात् ॥ अचेतनेऽर्थबन्धनात् ॥ अर्थविप्रतिषेधात् ॥ स्वाध्यायवचनाद ॥ अविज्ञेयात् । अनित्यसंयोगान्मंत्रानर्थक्यम् ।

मी० १।२।३४-३९॥

भी वेद का अर्थ मंत्र भाग[1] ही हैं। क्योंकि वहाँ पर जो पूर्व पक्ष उठाया गया है वह "ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत्" वाक्य को दृष्टि में रख कर है। उसका उत्तर दिया गया है ३३वें सूत्र में और कहा गया है कि अध्ययन रूप गुण का अर्थी शूद्र भी है अतः उसके वेदाध्ययन का निषेध नहीं है। ६।७।२६ में भी वेद का[2] अर्थ वेद ही है—ब्राह्मण नहीं। यहाँ पर पूर्व सूत्रों से यह प्रश्न चल रहा है कि पूर्व सृष्टि में भी क्या लोगों के लिए वैदिक कर्मों का ऐसा ही विधान था तथा वे सहस्रों वर्षों की आयु वाले होते रहे होंगे। इसका समाधान इस २६ वें सूत्र में किया गया है कि वेद के द्वारा विधान पाया जाता है और जो वेद पहले थे वही इस कल्प में भी। वेदानुसार मनुष्य की आयु सौ वर्ष की होती है। यथा जीवेम शरदः शतम्—इत्यादि। इसी प्रकार[3] ३।६।२० सूत्र में श्रुति पद शाखा के लिए प्रयुक्त हुआ है। वैदिक शब्दों में शाखाओं के भी शब्द आते ही हैं। यज्ञ के प्रकरण में भी शाखाओं के मंत्र आते हैं—अतः उसका प्रयोग जैमिनि ने किया है। परन्तु इनको मूलवेद कहीं पर नहीं माना है।

मीमांसा ४।४।३४ में श्रुति पद का प्रयोग दो बार हुआ है। प्रथम स्थान पर तो यह शाखा के लिए प्रयुक्त है। यह भाष्यकारों की अपनी मन-मानी है कि प्रतीक ब्राह्मणग्रन्थों को देते हैं। दूसरा श्रुति पद सुनने के अर्थ में प्रयुक्त है। यह प्रयोग ही बतला देता है कि श्रुति पद का इस दर्शन में कई अर्थों में प्रयोग है।

---

[1] अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत। मी० ६।१।३३॥

[2] विधौतुवेदसंयोगादुपदेशः स्यात्। मी० ६।७।२६

[3] श्वस्त्वेकेषाँ तत्र प्राक्श्रुतिर्गुणार्था। मी० ३।६।२०

मीमांसा[१] ६।१।५ सूत्र वैदिक कर्मों में स्त्री के अधिकार का युक्ति सूत्र है। इस में यह वर्णित है कि कर्त्ता के लिए कर्म का विधान वेद करता है अतः स्त्री को भी अधिकार है। यहाँ पर श्रुति का अर्थ वेद है। वेद में कहा भी गया है "कुर्वन्नेवेह कर्माणि; यजुः ४०।२। इससे अगले सूत्र में ऐतिशायन का मत दिया गया है और ८वें सूत्र में वादरायण के मत से यह सिद्ध किया गया है कि स्त्री को यज्ञ का अधिकार है। मीमांसा ११।२।४१ में आम्नाय पद का प्रयोग ब्राह्मण के लिये है—इसका कोई प्रमाण नहीं। शाखावों में भी लगभग वे वचन पाये जाते हैं जो ब्राह्मणों में पाये जाते हैं। साथ ही यदि आम्नाय पद ब्राह्मण के अर्थ में प्रयुक्त भी हो तो क्या वेद का जो लक्षण जैमिनि ने अपने सूत्रों में किया है वह व्यर्थ हो जावेगा। अतः जैमिनि के मत में ब्राह्मण वेद हैं–यह सर्वथा ही अर्थ और युक्ति से शून्य बात है। यहाँ पर एक और भी अकाट्य प्रमाण दिया जाता है जिससे ब्राह्मण का वेद होना पक्ष सर्वथा ही कट जायेगा। वेदों के मंत्रों का पाठ यज्ञ में एकश्रुति से होता[२] है। परन्तु न्यूंख, साम और जप के लिए यह नियम लागू नहीं है। जैमिनीय मीमांसा में भी यही नियम माना गया है। अध्ययन काल में वेद मंत्रों का त्रैस्वर्य पाठ (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित सहित पाठ) होता है।

---

[१]कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः कार्त्स्न्येन गम्येत ।। मी० ६।१।५... जातिंतु वादरायणोऽविशेषात्तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत ।। मी० ६।१।८।

[२]यज्ञकर्मण्यजपन्यूंखसामसु ।। अष्टाध्यायी १।२।३४, तानो वा नित्यत्वात् । एकश्रुति......यज्ञकर्मणि० ।। कात्यायन श्रौतसूत्र १।८।१८–१९।। यजुः प्रातिशाख्य और मीमांसा ९।२।७ में भी इस पक्ष को स्थापित किया गया है।

परन्तु ब्राह्मणों के स्वर का वर्णन करते हुये जैमिनि ने इन का भाषिक स्वर माना[1] है। शबर[2] ने भी यहाँ पर ऐसा ही लिखा है। यदि जैमिनि वेद और ब्राह्मण को एक मानता होता तो वेदों का त्रैस्वर्य (वैदिक स्वरों से युक्त) पाठ और ब्राह्मणों का भाषिक (भाषा सम्बन्धी) स्वर क्यों मानता।

(च) न्यायदर्शन में जितने आक्षेप सूत्र हैं उनमें ब्राह्मणों के वाक्यों का ही प्रयोग है—इस कथन से भी ब्राह्मणों का मूल वेद होना सिद्ध नहीं होता है। न्यायदर्शन २।१।६२ सूत्र पर जो विश्वनाथ जी का वाक्य उन की वृत्ति में उपलब्ध होता है (मंत्र ब्राह्मणभेदाद्द्विधावदे:) वह उनकी पौराणिकी भावना का द्योतक है। अत: वह प्रमाण कोटि में नहीं आता है। रही बात वात्सायनभाष्य की—उससे भी ब्राह्मण का वेद होना नहीं बनता। वात्सायन ने न्याय सूत्र १।१।८ (सद्विविध: दृष्टादृष्टार्थत्वात्) पर लिखा है कि आप्तोपदेश दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भेद से दो प्रकार का होता है। इस प्रकार यह ऋषि और लौकिक वाक्यों का विभाग है। यहाँ पर आप्तोपदेश अर्थात् शब्द प्रमाण का विषय वर्णित है अत: परीक्षा प्रकरण में भी इसी की परीक्षा होना अनिवार्य है। इसी दृष्टि से न्यायदर्शन २।२।६०—६६ तक शब्द के प्रमाण की परीक्षा का विषय है। यहाँ पर ब्राह्मण वेद हैं—इसका प्रसंग नहीं है बल्कि शब्द प्रमाण की परीक्षा का प्रकरण है। शब्दों में वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के शब्द आते हैं। वैदिक शब्दों में शाखा और ब्राह्मणों के शब्द भी आते हैं। अत: उनका प्रयोग

---

[1] मंत्रोपदेशो वा न भाषिकस्य प्रायोपपत्तेर्भाषिकश्रुति: ॥ मीमांसा १२।३।१७॥

[2] भाषास्वरो ब्राह्मणे प्रवृत्त:। शबरभाष्य ।१२।३।१७ पर

करना अनुचित नहीं। परन्तु उन ब्राह्मण वाक्यों का प्रयोग यह किस प्रकार सिद्ध करता है कि वे वेद हैं। न्याय सूत्र २।२।६० पर भाष्यकार वात्सायन स्वयं कहता है कि "लोक[1] में जैसे शब्द की प्रमाणता है वैसे ही ब्राह्मण आदि ग्रन्थों की भी। ब्राह्मण वाक्यों का विभाग, विधि, अर्थवाद और अनुवाद रूप से तीन प्रकार का है।' यहाँ पर न्याय भाष्यकार ने "वेद" पद का प्रयोग तो किया नहीं है। ब्राह्मण पद का हो प्रयोग किया है। फिर अन्यथा कल्पना के लिए स्थान नहीं रहता। वह पुनः २।२।६४ सूत्र पर लौकिक वाक्यों में भी विधि अर्थवाद और अनुवाद को घटाता है[2] और कहता है कि जैसे लौकिक वाक्यों में विभाग से अथ का ग्रहण होता है और उनकी प्रमाणता है वैसे ही वैदिक वाक्यों में भी विभाग से अर्थ ग्रहण होने से उनकी प्रमाणता है। यहाँ ब्राह्मणगत शब्दों की प्रमाणता को सिद्ध करके २।२।६४ में कहे वैदिक शब्द की प्रमाणता को ६७वें सूत्र में भाष्यकार सिद्ध करता है। वह कहता है कि दृष्टार्थ[3] आयुर्वेद आदि की प्रमाणता से अदृष्टार्थ वेदभाग का भी प्रमाण अनुमित होता है। क्योंकि आप्त प्रमाण का हेतु दोनों में समान ही है। वह समानता क्या है इसका भी

---

[1]प्रमाणं शब्दो यथा लोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः॥ वात्सायन भाष्य २।२।६०।

[2]लोकेऽपि विध्यर्थवादोऽनुवाद इति च त्रिविधं वाक्यम्।

वात्सायन २।२।६४

[3]दृष्टार्थेनाप्तोदेशेनायुर्वेदेनादृष्टार्थो वेदभागोऽनुमातव्यः प्रमाणमिति, आप्तप्रामण्यस्य हेतोः समानत्वादिति। वात्सायनभाष्य २।२।६७

वर्णन स्वयं करता है "जो आप्त[1] वेदार्थ के द्रष्टा (वेद के कर्त्ता नहीं) हैं और वेदार्थ के प्रवक्ता हैं वे ही आयुर्वेद आदि शास्त्रों के कर्त्ता हैं। अतः जब उन आप्तों के कहे गये आयुर्वेद आदि शास्त्रों की प्रमाणता प्रत्यक्ष है तो फिर उनके द्वारा जिन वेदमंत्रों के अर्थों का साक्षात्कार करके आयुर्वेद आदि लिखे गये उन वेद मंत्रों की प्रमाणता भी सिद्ध है। यहाँ पर भाष्यकार ने सूत्रस्थ मंत्र पद से मूल वेद को ही स्वीकार किया है। वस्तुतः तो यहाँ पर शब्द प्रमाण का विषय है। ब्राह्मण वेद है—इसका कोई प्रसंग ही नहीं है।

यक्ता के कहे प्रातिशाख्य और कथित सर्वानुक्रमवृत्ति से भी ब्राह्मणों का वेदत्व सिद्ध नहीं होता है। प्रतिशाख्य नाम ही बतलाता है कि वह शाखा से सम्बद्ध व्याकरण है। उस पर उवट का मंत्र और ब्राह्मण को वेद लिखना स्वयं व्यर्थ है। वह कितनी ही व्याख्या "मंत्र" और ब्राह्मण की करे परन्तु उसकी प्रामाणिकता नहीं मानी जा सकती है। उवटभाष्य को यहाँ पर प्रमाण नहीं माना जा सकता। सूत्रस्थ "आम्नायधर्मत्वात्" वाक्य विकल्प को सूचना दे रहा है। फिर आम्नायधर्मता के आधार पर ब्राह्मण को सर्वतंत्रतः वेद मानने का क्या अर्थ हो सकता है—कुछ भी नहीं। सर्वानुक्रम के भाष्य के प्रमाण में "आहुः" "आचक्षते" आदि पद पड़े हैं जो कल्पित परिभाषा के द्योतक हैं। साथ ही सर्वानुक्रमसूत्रों में वेद के मूलभाग को ही अनुक्रमणी क्यों है ?—यदि ब्राह्मणभाग भी वेद था तो उसकी भी अनुक्रमणी होनी चाहिए थी। परन्तु है नहीं, अतः वृत्ति व्याख्याकार का वचन मूल के ही विरुद्ध है। पूर्व इसी प्रकरण

[1] य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्चतएवायुर्वेदप्रभृतीनामित्यायुर्वेदप्रामाण्यवद्वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति ॥ वा० २।२।६७

के (घ) भाग के समाधान में इस पर विशेष विवेचन कर दिया गया है। सायणाचार्य के कथन को प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

वैशेषिक ६।१।१ सूत्र की व्याख्या में किसने माना है—यह भी तो बतलाना चाहिए था। वैशेषिक के १।१।२[1] सूत्र में आम्नाय का जो वर्णन किया गया है और प्रशस्त[2] पाद ने जिसे ईश्वर की नोदना स्वीकार किया है—उसके विरुद्ध यदि कोई अपने व्याख्यान में वर्णन करता है तो मन्तव्य नहीं हो सकता है। प्रशस्तपाद ने शब्द का अनुमान के अन्दर अन्तर्भाव करते हुए "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" आदि का उदाहरण दिया है परन्तु वहाँ पर "स्वर्गकामो यजेत्" वाक्य नहीं दिया है। यदि आपका तात्पर्य शंकर मिश्र आदि के व्याख्यान से है तो उनका प्रमाण स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह मूल और भाष्य दोनों के विरुद्ध है। वैशेषिक दर्शनकार ने ६।१।१ में जहाँ वेद की कृति को बुद्धिपूर्वक कहा वहाँ "ब्राह्मण का भी दूसरे सूत्र में लक्षण कर[3] दिया। उसका आशय यह है कि वेद की रचना बुद्धिगम्य है और ब्राह्मणों में संज्ञा (यज्ञभाग की परिभाषायें) कर्म की सिद्धि कही गई है।

(छ) शंकराचार्य ने वेदान्त ३।१।५ सूत्र के भाष्य में उपनिषद् के वचन को वेद कहा है—इससे भी ब्राह्मण और उपनिषद् वेद नहीं बन सकते हैं। शंकर का वाक्य वहाँ पर इस प्रकार है—

---

[1] तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ।।वैशेषिक १।१।२

[2] तच्चेश्वरनोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव । प्रशस्तपाद भाष्य १।१।२

[3] बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे । वै० ६।१।१ तथा ब्राह्मणे संज्ञाकर्म-सिद्धिलिङ्गम् ।। वै० ६।१।२

श्रद्धा शब्दश्चाप्सूपपद्यते वैदिकप्रयोगदर्शनात्—अर्थात् श्रद्धा शब्द अप् में उपपन्न होता है क्योंकि ऐसा वैदिक प्रयोग देखा जाता है। यहाँ पर "वैदिक" पद का प्रयोग है। वैदिक शब्दों में इसका ग्रहण हो सकता है क्योंकि यह लौकिक शब्द नहीं है। परन्तु इससे ब्राह्मण और उपनिषद् का वेद होना कहाँ सिद्ध होता है ?

मनुस्मृति चतुर्थाध्याय के ९५ से लेकर ९९ श्लोकों में 'छन्दः' पद आया है। यहाँ पर मूल श्लोकों में श्रावणी उपाकर्म और उत्सर्जन का प्रकरण चलाया जा रहा है। यहाँ पर "छन्दः" का अर्थ सर्वत्र वेद ही है क्योंकि १००वें श्लाक में ब्रह्म और छन्दस्कृत पद पड़े हैं। यदि छन्दः से ब्राह्मण भी अभिप्रेत होता तो ब्रह्म और छन्दस्कृत भेद करने की आवश्यकता नहीं थी[1]। यहाँ पर "ब्रह्म" मूल वेदभाग के लिए प्रयुक्त है और "छन्दस्कृत" ब्राह्मण आदि के लिए प्रयुक्त है। अतः श्री कुल्लूक भट्ट और मेधातिथि का अर्थ मूल के विरुद्ध होने से अप्रमाण है। ९८वें श्लोक में "वेदांगानि" का पृथक् वर्णनं[2] है फिर छन्दः का अर्थ ब्राह्मण कैसे हो सकता है। मधुसूदन जी आपके लिए प्रमाण होंगे—हम उन्हें प्रमाण नहीं मानते हैं।

(ज) भाष्यकार लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के पदों का वर्णन करता है और "छन्दस्" पद से सभी वैदिक साहित्य का ग्रहण किया जाता है (जैसा कि शाखा प्रकरण में कह दिया गया है)। अतः यदि भाष्यकार ने ब्राह्मण ग्रन्थ का उदाहरण दिया तो

---

[1] ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि। मनु० ४।१००

[2] अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठत्।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ।४।९८॥

उससे ब्राह्मण का मूल संहिता होना सिद्ध नहीं होता है। वह तो मूल वेद को वर्णानुपूर्वी को नित्य मानता है। ब्राह्मण में यह लक्षण नहीं घटता है। इस के अतिरिक्त जिस स्थल पर यह वाक्य दिया गया है कि वेदशब्दा अप्येवं वदन्ति—अर्थात् वेद शब्द ऐसा कहते हैं कि "योऽग्निष्टोमेन यजति। "वेदशब्दा:" का अर्थ है (वेद. शब्दो वाचको येषां ते) वैदिक साहित्यप्रकार अथवा वेदिकक्रिया प्रकार। भाष्यकार का वेद पद "ऋऌक्" सूत्र आदि के स्थलों पर "वेदशब्द" का बोधक है।

(झ) पाणिनि छन्द: पद से क्या ग्रहण करता है यह शाखाओं के प्रसंग में बतलाया जा चुका है। पाणिनि का ३।२।७३ सूत्र "विजुपे छन्दसि" है। इसका अर्थ यह है कि "उप" उपपद होवे तो छन्द में यज धातु को विच् प्रत्यय हो। यहाँ पर छन्द: पद से शाखान्तर का ग्रहण अभिप्रेत है। इसके पूर्ववर्त्ती ३।२।७१ में 'मंत्र' पद पड़ा है। ७२वें सूत्र में उसको अनुवृत्ति आती है। वह "मंत्र" की अनुवृत्ति यहाँ भी प्राप्त थी। परन्तु छन्दसि का पुन: प्रयोग करके शाखाओं में भी इसे प्राप्त करा दिया। यदि "छन्दस्" से केवल मंत्रभाग मात्र का ही ग्रहण होता होता तो फिर यहाँ पुन: "छन्दस्" ग्रहण करने की आवश्यकता ही नहीं थी। यदि यहाँ पर छन्दस् का अर्थ ब्राह्मण मान लिया जावे तब भी वह मूल वेद नहीं हो सकता है—क्योंकि मंत्र पद की अनुवृत्ति तो यहाँ पर थी ही—और छन्द तथा मंत्र जब समानार्थक हैं तो यहाँ छन्दसि कहने की आवश्यकता न होने से "ब्राह्मणे" कहना चाहिये था अथवा छन्दसि का प्रयोग न करके "विजुपे" मात्र कहना चाहिये था। पाणिनि की छन्दस् की परिधि में आते हुये भी ब्राह्मण मूलवेद नहीं बन जाता है क्योंकि "मंत्रे" आदि से वेद का इनसे पृथक् ग्रहण है। पाणिनि के ६।१।२०९ (जुष्टा-

र्पितं छन्दसि) का अर्थ यह है कि जुष्ट और अर्पित शब्दों को छन्दस् में आद्युदात्त विकल्प करके होता है। परन्तु अगला सूत्र ("नित्यं मंत्रे" ६।१।२१०) बतलाता है कि "मंत्र में जुष्ट और अर्पित पदों को नित्य ही आद्युदात्त होता है। २०९वें सूत्र में छन्दस् का अर्थ ब्राह्मण अथवा शाखा कुछ भी मान लिया जावे तब भी उनका वेद होना तो नहीं बन सकेगा—क्योंकि २१०वें सूत्र में "मंत्र" ग्रहण करके उनसे वेद को पृथक् कर दिया गया। यदि "छन्दस्" पद मंत्र के लिए ही प्रयुक्त होता होता तो यहाँ पर "मंत्रे" ग्रहण की आवश्यकता नहीं थी। फिर तो सर्वत्र आद्युदात्तता विकल्प से ही रहती।

जिस वस्तु का परिज्ञान न हो उस पर कुछ न कहना ही अच्छा था। परन्तु सत्य अपने आप सामने आना चाहता था अतः यक्ता जी बोल ही पड़े। निरुक्त ३।२२ में जो निगम दिये गये हैं उनमें "अमेनांश्चिज्जनिवतश्चकर्थ" तो ऋग्वेद ५।३१।२ में है ही। रही बात "ग्नास्त्वाऽकृन्तन्नपसोऽतन्वत" वाक्य की। यह भी वाक्य मैत्रायणी शाखा १।९।४ का है। वहीं से यह आपके ताण्ड्य ब्राह्मण में (१।१।८) भी गया है। जैसा पूर्व कहा गया है छन्दः पद से यास्क शाखा का भी ग्रहण करता है—अतः यह शाखा-वचन यास्क ने लिया—ब्राह्मण का वचन नहीं। "निरुक्त के "निगम" पद का अर्थ ज्ञापक वाक्य अथवा ज्ञापक प्रतीक है। वह मूल संहिता और शाखा से भी ग्रहण की गई है। "निगमो भवति" से "मूलसंहितामन्त्रो भवति" अर्थ मात्र ही नहीं अभिप्रेत है। ब्राह्मणों की प्रतीक देने में यास्क ने कहीं पर "निगमो भवति" का प्रयोग नहीं किया है। इसके लिए उसने "इति ब्राह्मणम्" का प्रयोग किया है।

निरुक्तालोचनकार कुछ भी अर्थ करता रहे उसको प्रमाणभूत स्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्या यक्ता जी निरुक्तालोचन के लेखक श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी के ब्राह्मणविषयक मत को स्वीकार करते हैं। श्री पं० सत्यव्रत जी ब्राह्मण को वेद कहाँ मानते हैं। "मंत्रान् संप्रादुः" का अर्थ है मंत्रों को दिया और "वेदं च समाम्नाशिषुः" का अर्थ है कि वेद को शाखा और उपवेद के रूप में विस्तार से कहा। यहाँ पर वेद का अर्थ ब्राह्मण नहीं है। इसका अर्थ शाखा के प्रकरण में दिया जा चुका है। यास्क ने निरुक्त २।१ पर जो "यस्मात्परं नापरमस्ति" आदि वाक्य दिया है वह वर्तमान समय में श्वेताश्वतर उपनिषद् ३।६ पर मिलता है। परन्तु यास्क के समय में यह किसी शाखा में रहा होगा और वहाँ से ही यास्क ने दिया होगा। वर्तमान समय में वह शाखा उपलब्ध नहीं है। यास्क ने "शिशिरं जीवनायकम्" का उद्धरण निरुक्त १।१० पर दिया है। ऋग्वेद १०।१६१।१ में 'हविषा जीवनायकम्' पाठ है। शेष भाग कहाँ का उद्धरण है—आज तक पता नहीं।

(ञ) काशी शास्त्रार्थ में महर्षि ने ऐसा कहा है जब तक यह सप्रमाण सिद्ध न कर दें तब तक इसका कोई तात्पर्य नहीं है। महर्षि ने कहीं पर भी ऐसा नहीं लिखा है कि वेद में मनुस्मृति पायी जाती है। यह लेखक की अपनी कल्पना है। उसे इस विषय का प्रमाण देना चाहिए था परन्तु उसने दिया नहीं। सत्यार्थ प्रकाश प्रथम संस्करण की जो बात लिखी है उसका कोई प्रमाण नहीं है।

उपनिषदों के वचन को देकर महर्षि ने प्रथम समुल्लास में कहीं पर उन्हें मंत्र नहीं कहा है। सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास पृष्ठ ८७ (शताब्दी संस्करण दयानन्द ग्रन्थमाला) पर यह लिखा

है "अथ मंत्रार्थः" पुनः नीचे ओं खं ब्रह्म ।१। यजुः अ० ४०।१७ लिखा है। नीचे हिन्दी में लिखा है "देखिये वेदों में ऐसे प्रकरणों में 'ओम्' आदि परमेश्वर के नाम हैं।" यहाँ पर पूर्व प्रकरण से चले आये वाक्यों का सम्बन्ध है। "सन्धवमानय" उदाहरण देकर महर्षि ने यह दिखलाया कि सैन्धव के दो अर्थ हैं—नमक और अश्व। जैसा प्रसंग (भोजन अथवा गमन का) हो वैसा अर्थ करना चाहिए। उसी बात को समझाने के लिए कह रहे हैं कि "ओ३म् खं ब्रह्म" में जो ओम् आदि अर्थात् ओम्, खं और ब्रह्म आदि पद हैं उनको परमेश्वर के नाम समझना चाहिए और वही अर्थ लेना चाहिए। यहाँ पर महर्षि का "वेदों में ऐसे प्रकरणों" वाक्य नीचे लिखे उपनिषद् और मनुस्मृति के लिए नहीं है। इनके लिए वेद शब्द नहीं लागू है। उपनिषदों के वचनों के साथ पृष्ठ १०७ पर उपनिषद् वचन ही कहा है। पृष्ठ ८७ पर छान्दोग्य, माण्डूक्य और कठ के प्रमाणों के साथ जो मंत्र पद का उल्लेख है वह उनके व्यवहार को देख कर है। उन्हें वेद मानकर नहीं। चूँकि उपनिषदों में ऐसा व्यवहार पाया जाता है अतः वैसा हो महर्षि ने दिखलाया। "मंत्र" तो झाड़ फूँक वाले भी अपने वाक्यों के लिए प्रयुक्त करते हैं। लेकिन वे वेद नहीं बन जाते हैं।

(ट) समुदायेषु हि वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तमाना दृष्टाः यह नियम सार्वत्रिक नहीं है—कहीं कहीं पर ही लागू होता है। इसके ऊपर कोई सार्वत्रिक सिद्धान्त नहीं खड़ा किया जा सकता है। पट, वन, ग्राम आदि का व्यवहार समुदाय को लेकर होता है परन्तु आम कहने पर समूचे वन, सूत्र कहने पर समूचे पट और किसी व्यक्तिमात्र का नाम लेने पर समूचे ग्राम का अर्थ नहीं निकलता है। ऐसा व्यवहार बहुधा पारिभाषिक होता है।

शंकराचार्य जी ने भी जो कुछ कहा है उसका भी यही आशय है कि कहीं कहीं पर ऐसा होता है। इस नियम के होते हुए भी खिचड़ी को कोई भात नहीं कहता है। एक ही वृक्ष की छाल को दालचीनी, पत्ते को तेजपत्र, फूल को जावित्री और फल को जायफल कहा जाता है। यहाँ पर समुदाय वाला नियम नहीं लागू होता है। अतः इस पर कोई सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता है।

ब्राह्मणवसिष्ठन्याय की भी ऐसी ही स्थिति है। जहां सब ब्राह्मण ही ब्राह्मण हैं और वसिष्ठ भी ब्राह्मण ही हो वहाँ पर तो यह न्याय कुछ समय के लिए लागू हो जाता है परन्तु जहाँ वसिष्ठ ब्राह्मण न हों वहां पर इसकी कोई स्थिति नहीं। वसिष्ठ को गणिकागर्भसंभूत मानने वालों के यहाँ तो यह न्याय सर्वथा ही व्यर्थ है।

(ठ) 'छन्दस्' पाणिनि के मत में 'मंत्रभाग'' मात्र के लिए प्रयुक्त है और 'निगम'' पद यास्क के द्वारा निरुक्त में केवल मंत्रभाग के लिए ही प्रयुक्त है—दयानन्द रहस्य के लेखक की इन शास्त्रों से कोरी अनभिज्ञता को प्रकट करते हैं और उस के इस प्रसंग में पूर्व कहे गए अन्य वचनों को काटने से वदतो-व्याघात हैं। ''छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि'' सूत्र में छन्द मंत्र भाग के लिए और ''ब्राह्मण'' ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त है। यदि दोनों एक ही होते तो किसी एक का प्रयोग व्यर्थ था। ''इत्यपि निगमो भवति' से यास्क शाखा वचन के भी प्रमाण देता है जब कि शाखा वेद नहीं अपितु वेद के व्याख्यान हैं। इनका विवे-चन पूर्व किया जा चुका है।

(ड) ऋषि का वर्णन नहीं व्यर्थ है—आपका ही वर्णन व्यर्थ है। अष्टाध्यायी २।३।६० (द्वितीया ब्राह्मणे) सूत्र ब्राह्मण विषयक

प्रयोग में "दिव्" को कर्मकारक में द्वितीया का आदेश करता है। ६१वाँ सूत्र प्रेष्य और ब्रू को हवि सम्बद्ध कर्म में षष्ठी विभक्ति करता है। यदि देवता संप्रदान विषय विद्यमान हो। ६२वां सूत्र (चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि) छन्दस् विषय में बहुल करके चतुर्थी विभक्ति को षष्ठी आदेश करता है। यदि ब्राह्मण और छन्दस् समानार्थक होते तो ६२वें सूत्र में छन्दस् ग्रहण की आवश्यकता ही नहीं थी—क्योंकि ६०वें सूत्र से स्वभावतः ब्राह्मण की अनुवृत्ति आ ही रही थी अतः ब्राह्मण से छन्दस् की भिन्नार्थता है—यह यहाँ पर सिद्ध है।

(ढ) इसका समाधान पूर्व किया जा चुका है। "छन्दसि" ग्रहण सामान्येन पूरे वैदिक-साहित्य के लिए होता है और "मंत्र" ग्रहण केवल मूल मंत्रभाग के लिए है। इस भेद को बतलाने वाले ये दोनों सूत्र हैं। यदि "छन्दस्" और मंत्र एक ही है तो मंत्र ग्रहण की यहाँ आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि उसकी अनुवृत्ति पूर्व २०९ सूत्र से २१० में प्राप्त हो थी। परन्तु यहाँ पर ब्राह्मण भाग वेद हैं—इसका क्या प्रसङ्ग है। छन्दस् से पाणिनि केवल मंत्रभाग मात्र को मानता है—यह किसने लिखा और कहा है।

(ण) अथर्व वेद १५।६।११ में[1] इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी का जो वर्णन है वह ब्राह्मण ग्रन्थों अथवा श्रीमद्भागवत आदि के लिए नहीं है। वह ब्राह्मण विद्याओं और विज्ञानों के लिए प्रयुक्त है जिन के आधार पर ये ग्रन्थ बनते हैं। पुराण आदि शब्दों से क्या अभिप्रेत है—इसका वर्णन मेरी पुस्तक वैदिकज्योति के वेदों में इतिहास नहीं प्रकरण में किया गया है। अथवा इस

---

[1] तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्
अथर्व १५।६।११

विद्या वाले एवं इस संज्ञा वाले चारों वेदों के मंत्रों का यहाँ पर ग्रहण है। अतः मंत्रभाग से ब्राह्मण भाग का पूर्व का बना होना सिद्ध नहीं होता है। इसके पूर्व १५वें काण्ड के प्रथम सूक्त के ४ थे मंत्र में वृहत् और रथन्तर का भी वर्णन है। ये साम के मंत्रों की संज्ञायें हैं। १०वें मंत्र में यज्ञियायज्ञिय और वामदेव्य का वर्णन है। ये भी मंत्रों की संज्ञायें ही हैं।

"त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य" मंत्र में जमदग्नि का अर्थ चक्षु और कश्यप का अर्थ प्राण नहीं है—यह भी कथन ठीक नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यजुर्वेदीय ३।६२ मंत्र में आये "जमदग्नि" आदि का ऐसा ही अर्थ किया गया है। यद्यपि इनके और भी अर्थ होते हैं परन्तु यह अर्थ भी है और इस मंत्र में यह अर्थ सर्वथा ही संगत है। शतपथ ब्राह्मण[१] (८।१।२।६) में लिखा है कि चक्षु ही जमदग्नि ऋषि है। इसी से जगत् को देखा जाता है और माना जाता है—इस लिए चक्षु ही जमदग्नि ऋषि है। यहाँ पर कितना स्पष्ट वर्णन है। 'यक्ता' का दयानन्दरहस्य के पृष्ठ १४० पर यह कहना कि चारों वेदों में से किसी के मंत्र से चक्षु का जमदग्नि होना नहीं पाया जाता व्यर्थ की डींग मारना है और वेदानभिज्ञता का प्रदर्शन मात्र है। देखें[२] यजुर्वेद १३वें अध्याय के ५४वें मंत्र से

---

[१]चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यति अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्नि ऋषिः। शतपथ १३।२।२।१४॥

[२]वसिष्ठ ऋषिः प्रजापति गृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि ॥ यजुः १३।५४

भरद्वाजः	"	"	"	मनो	"	१३।५५
जमदग्निः	"	"	"	चक्षुः	"	५६
विश्वामित्रः	"	"	"	श्रोत्रं	"	५७
विश्वकर्मा	"	"	"	वाचं	"	५८

लेकर ५८वें मंत्र पर्यन्त क्रमशः "वसिष्ठ ऋषि"; भरद्वाज ऋषि; जमदग्नि ऋषि; विश्वामित्र ऋषि और विश्कर्मा ऋषि पद, प्राण, मन, चक्षु, श्रोत्र, और वाणी के लिए प्रयुक्त हैं। शतपथ में ३।६२ मंत्र का यह निर्वचन हो वा न हो परन्तु मंत्रार्थ संगति तो इसी पर बैठती है। ब्राह्मण ग्रन्थ यह कहाँ कह रहा है कि इसका अर्थ अमुक स्थान पर ही ऐसा लेना। जहाँ पर संगति लगती है वहां पर लेना चाहिए और जहाँ पर संगति अन्य अर्थ की बैठती है वहाँ पर अन्य अर्थ लेना चाहिये। यास्क ने निरुक्त में ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्वचन और अर्थ जहाँ पर दिये हैं, क्या कोई दिखला सकता है कि ब्राह्मणों में ये निर्वचन उन्हीं मंत्रों के भाष्य पर दिये गये हैं। सब स्थलों पर एक ही अर्थ लगे—यह भी कोई सिद्धान्त नहीं है। यौगिक प्रक्रिया में जहाँ जो अर्थ संगत होता है वह लगाया जाता है।

"विद्वान्सो वैदेवाः" का यही अर्थ है कि विद्वान् ही देव हैं। इसी प्रकार यजमानो वै यूपः का अर्थ है कि यूप ही यजमान है। यहाँ पर यजमान को गाड़ने की जरूरत नहीं है। यह तो यौगिक प्रक्रिया का चमत्कार है जो आप को ज्ञात नहीं है। यदि आप का अर्थ कर लिया जावे कि "देव विद्वान् होते हैं" तो फिर 'यजमानो वै यूपः' का क्या अर्थ बनेगा। यजमान यूप होता है अथवा यूप यजमान होता है—इसमें भी तो गाड़ने वाली बात बनी रहेगी। यौगिक प्रक्रियानुसार "यूप" पद यजमान अर्थ को देता है। आप के माने अर्थ के अनुसार आपके "शृणोत ग्रावाणः" को क्या स्थिति होगी। क्या पत्थर भी सुनते हैं।

महर्षि के "विद्वान्सो वैं देवाः" की अर्थप्रक्रिया को न मान कर आपकी अपनी अर्थ प्रक्रिया के अनुसार निम्न ब्राह्मण वाक्यों

का अर्थ क्या होगा—

१—प्राणा वै ग्रावाणः । शतपथ १४।२।२।२३

२—वज्रो वै ग्रावा । " ११।५।६।७

३—पशवो वै ग्रावाणः । ताण्ड्य ६।६।१३

४—विशो ग्रावाणः । शतपथ ३।६।३।३

५—विद्वान्सो हि ग्रावाणः । शतपथ ३।६।३।४

६—प्राणापानौ मित्रावरुणौ । तैत्तिरीय ३।३।६।६

७—प्राणोदानौ मित्रावरुणौ । शतपथ १।८।३।११

८—इमे हि द्यावापृथिवी प्राणोदानौ । शतपथ ४।३।१।२२

९—प्राणो वै वाचस्पतिः । श० ४।१।१।६

१०—प्राणा वा आपः । तै० ३।१।५।२

'विद्वान्सो वै देवाः' का "देव विद्वान् होते हैं" अथवा "विद्वान् देव के सदृश होते हैं"—इन अपने दो अर्थों में से किसी अर्थ के आधार पर ऊपर के वाक्यों का अर्थ "यक्ता" घटा ही देवें। अन्यथा व्यर्थ की मनगढ़न्त बातों का कुछ अर्थ नहीं है।

देव गुणों और कर्म आदि से तो साधारण मनुष्यों से भिन्न हैं परन्तु योनि=शरीराकृति आदि में मनुष्य ही हैं। तभी तो देव का अर्थ विद्वान् लिया जाता है। परन्तु मनुष्यों के अतिरिक्त कोई और चेतन देव होते हैं जो मनुष्य की आकृति से भिन्न आकृति रखते हों इस का कोई प्रमाण नहीं है। निरुक्त १।२ में आये "मनुष्यवद्देवताभिधानम्" का अर्थ मनुष्य की भांति कोई पृथक् चेतन देवता होते हैं—ऐसा नहीं है। यहाँ पर देवता का अर्थ वेदमंत्र हैं। मनुष्यों से अतिरिक्त कोई योनिविशेष चेतन देवता नहीं। निरुक्त १०।१६ पर "यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति" वाक्य में मध्यमस्थानी "वास्तोष्पति" का वर्णन चल रहा है। यह "वास्तोष्पति" अन्तरिक्षस्थ वायु अथवा ऊष्मा का नाम है। वह भिन्न रूपों में कार्य करता है।

शतपथ २।२।२।६ का प्रमाण भी ऐसे किन्हीं देवों के होने का प्रमाण नहीं प्रस्तुत करता है। वहाँ पर यज्ञ की दक्षिणा का प्रकरण चल रहा है। वहाँ पर यह दिखलाया गया है कि देव दो प्रकार के हैं जिनसे यज्ञ को संपन्न किया जाता है। एक तो जिनको यज्ञ में आहुति दी जाती हैं—अग्नि, इन्द्र आदि भौतिक पदार्थ और दूसरे[1] वेदज्ञ विद्वान् आदि। भौतिक देव अग्नि आदि देव हैं और चेतन देव वेदज्ञ ब्राह्मण आदि मनुष्य देव हैं। आहुति से अग्नि आदि भौतिक देवों को उपयोगी बनाया जाता है और दक्षिणा से विद्वान् ऋत्विग् आदि मनुष्य देवों को प्रसन्न किया जाता है। यहाँ पर "विद्वान्सो वै देवाः" का अर्थ भी ठीक ही घट रहा है। परन्तु यक्ता के माने मनुष्यों से अतिरिक्त चेतन देवों का तो यहाँ पर नाम भी नहीं है।

(त) निरुक्त ६।३० पर "पराशर" का अर्थ वसिष्ठ-कुलोत्पन्न इतिहास की दृष्टि से किया होगा—वेद मंत्र के अर्थ की दृष्टि से नहीं। यदि पं० राजा राम ने ऐसा अर्थ किया है तो वह मन्तव्य नहीं है। यास्क ने यहाँ पर "पराशरः पराशीर्णस्य स्थविरस्य जज्ञे" इतना ही लिखा है। वसिष्ठ जल आदि अनेक अर्थों को देने वाला है। यहाँ पर यह कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है—अन्यथा यास्क इन्द्र को पराशर क्यों कहता? वह कहता है कि इन्द्र भी पराशर है (इन्द्रोऽपिपराशर उच्यते)।

---

[1]द्वया वै देवाः देवाः। अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणा शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवास्तेषां द्वेधा विभक्त एव यज्ञ आहुतय एव देवानां दक्षिणा मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां शुश्रुवुषाभनूचानानामाहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति दक्षिणाभिर्म्मनुष्यदेवान्ब्राह्मणाँच्छुश्रुवुषोऽनूचानांस्त एवमुभये देवाः प्रीताः सुधायां दधति। शतपथ २।२।२।४

क्या इतिहास मानने वाले यह बतला सकते हैं कि इन्द्र का नाम भी पराशर है । पराशर का अर्थ "पराशीर्णज" है । इसका ऊहा पोह के साथ वर्णन मैंने अपनी पुस्तक "वैदिक[1] इतिहासविमर्श" में कर दिया है । वहाँ पर देख लें । जमदग्नि के विषय में वेद का प्रमाण (ण) भाग के समाधान में दिया जा चुका है । प्रकरण और प्रसंग से अर्थ लगाया जाता है । प्रत्येक पद अनेकों अर्थों वाला होता है । जहाँ जो अर्थ प्रसंगतः संगत हो वह लगाना चाहिए । यदि एक स्थल पर कश्यप का अर्थ प्राण है और दूसरे स्थल पर वसिष्ठ का अर्थ प्राण है—तो इससे हानि ही क्या है । रूढ़ एवं ऐतिहासिक वसिष्ठ और कश्यप का ऐसा अर्थ विज्ञ पुरुष कभी भी नहीं करेगा । शतपथ ८।१।१।६ पर प्राण को वसिष्ठ ऋषि कहा भी गया है (प्राणो वै वसिष्ठ ऋषि) । शतपथ ७।५।१।५ में "कश्यपो वै कूर्मः" से कश्यप को कूर्म=प्राण कहा गया है ।

"ओं खं ब्रह्म" में अर्थ की कोई विषमता इस आधार पर नहीं आवेगी । परन्तु प्रक्रियान्तर में अथवा अन्यत्र कहीं "खम्" का अर्थ प्रकरण से आकाश किया गया तो उसमें कोई हानि नहीं । इससे चेतन ब्रह्म के अस्तित्व में किसी प्रकार की कोई हानि नहीं होगी । ऋग्वेद ४।११।२ और १०।१५६।३४ "खं" भिन्नार्थ में भी आया है । "वागेवर्ग्वेदः" से भी कोई क्षति नहीं आती है । किसी स्थल पर यह अर्थ होगा और किसी स्थल पर दूसरा अर्थ भी । शतपथ १४।४।३।१२ में जहाँ वागेवर्ग्वेदः कहा गया है वहाँ षड्विंश १।५ में "अयं (भू) लोक ऋग्वेदः" वाक्य से पृथिवी अर्थ भी ऋग्वेद का किया गया है । ऋग्वेद १।१६४।३९ में आये ऋक् पद का अर्थ करते हुये निरुक्त १३।१० पर आदित्य और

[1] आर्य साहित्य मण्डल अजमेर से प्रकाशित ।।

शरीर [(आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेः)—शरीमत्र ऋगुच्यते] ऋक् कहा गया है। जमदग्नि का अर्थ चक्षु के समान जमदग्नि ऋषि—आप की कल्पना है और बिल्कुल ही निराधार है। "चक्षुर्वै जमदग्नि ऋषिः" में समान अर्थ किस पद से निकाला जावेगा। "वै" का अर्थ तो "निश्चय" है "समान" नहीं।

(थ) वेदों में किन्हीं व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं है। पराशर की व्याख्या (त) भाग के समाधान में पहले कर दी गई है। ऋग्वेद १।१०५।१७ में जो "त्रित" पद आया है वह किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। यहाँ पर त्रित का अर्थ "त्रिस्थानः" इन्द्र है। आत्मा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में रहने से "त्रित" कहा जाता है। कूप का अर्थ संसार कूप है। प्रक्रियान्तर से "त्रित" का अर्थ त्रिकोण है और कूप का अर्थ वर्तुल है। इसका विशेष विवरण मेरी पुस्तक वैदिक-इतिहास-विमर्श में मिलेगा। इसमें वेद में आये उन समस्त शब्दों और मंत्रों पर विचार किया गया है जिनमें आधुनिक लोग इतिहास का गन्ध मानते हैं। निरुक्तकार की प्रक्रिया को जो नहीं समझता है वह ही ऐसी बात कर सकता है कि वेद में व्यक्ति विशेषों का इतिहास है।

नित्य इतिहास का यह तात्पर्य नहीं है जो यक्ता जी समझते हैं। नित्य इतिहास का तात्पर्य यह है कि सृष्टि में विद्यमान भौतिक पदार्थों का आख्यान रूप में वर्णन। किसी व्यक्ति विशेष, स्थान विशेष आदि का इतिहास वर्णन नहीं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वर्तमान गंगा, यमुना आदि नदियों का वेद में वर्णन कहीं पर स्वीकार नहीं किया है। ऋग् आदि चारों वेदों के होने का भी इतिहास महर्षि ने कहीं पर नहीं लिखा है। "तस्माद्यज्ञात्" यजुर्वेद ३१।७ मंत्र में आये क्रिया पद जज्ञिरे का अर्थ "जायन्ते" किया है। "अजायत" का भी अर्थ जायते किया है।

"चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्" आदि ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका के वाक्य में "प्रकाशिता:" का अर्थ "प्रकाशिता: सन्ति" है। इस प्रकार कहीं पर भी इतिहास की गन्ध इसमें आती नहीं। वर्तमानकाल में क्रिया लिखने का यह तात्पर्य है कि प्रत्येक कल्प में इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं।

"अथर्वाङ्गिरसो मुखम्" पदों से भी इतिहास की कोई गन्ध नहीं आती है। अङ्ग-अङ्ग में जिसके रस एवं ज्ञान हो उसका नाम आङ्गिरस है। अथवा सृष्टि के प्रत्येक अङ्गभूत पदार्थ का जिसमें ज्ञान हो उसका नाम आङ्गिरस है। अथर्ववेद ज्ञानकाण्ड है अतः उसका यह नाम सर्वथा उपयुक्त ही है।

(द) इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ब्राह्मणों के लिए प्रयुक्त हैं। ये ब्राह्मण ग्रन्थों में ही पाये भी जाते हैं। इन पदों से (जहाँ पर ये ब्राह्मण ग्रन्थों अथवा सूत्र ग्रन्थों में आये है) ब्राह्मणों का ही ग्रहण है। ब्राह्मण पद संज्ञी और इतिहास आदि संज्ञा है। अतः ब्राह्मण को ही इतिहास नाराशंसी आदि कहा जाता है। इस अर्थ में क्या दोष है—यह वक्ता जी को सप्रमाण लिखना चाहिए था। आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।३।१-३ तक की नारायण वृति में जो अर्थ किया गया है वह आपके ब्राह्मण को वेद भी नहीं सिद्ध करता है। इसमें "ब्राह्मणानि" पद का अर्थ भी नहीं किया गया है। गाथा आदि का भी अर्थ ब्राह्मणों से सम्बन्ध रखने वाला नहीं है। तैत्तिरीय आरण्यक २।१० में जितनी बार ये ब्राह्मण और नाराशंसी पद आये हैं—सब से मिलकर एक ही कर्म बतलाया गया है। ऋचायें, यजुवों, सामों और अथर्व से तो प्रत्येक से एक-एक कर्म बतलाये गये हैं परन्तु ब्राह्मण आदि सबसे एक ही कर्म बतलाया गया है। यदि ये सब भिन्न-भिन्न हैं और इनमें संज्ञा-सञ्ज्ञीभाव नहीं है तो प्रत्येक से भिन्न-भिन्न

कम क्यों नहीं लिखा गया । सायण और नारायण ने इन किन्हीं भी स्थलों पर ऐसा अर्थ नहीं किया है जिससे ब्राह्मण का वेद होना सिद्ध होता हो ।

शतपथ ११।५।६।८ और गोपथ पूर्वार्ध २।१० से भी यह नहीं सिद्ध होता है कि ब्राह्मण वेद हैं । यहाँ पर उस प्रकार की वाक्य रचना भी नहीं है । न्यायदर्शन वात्सायन भाष्य ४।१।६२ पर यह लिखा है कि ब्राह्मण प्रमाण से इतिहास और पुराण का भी प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिए । अङ्गिरस् लोगों ने इतिहास पुराण का उपदेश किया । जो लोग मन्त्र और ब्राह्मण के द्रष्टा एवं प्रवक्ता (अर्थात् मंत्र के द्रष्टा और ब्राह्मण के प्रवक्ता) हैं वे ही इतिहास पुराण और धर्मशास्त्र के । यहाँ पर वात्सायन इन की प्रामाणिकता का प्रतिपादन कर रहा है । यहाँ पर मंत्र और ब्राह्मण का विषय इतिहास पुराण और धर्मशास्त्र से पृथक् बताते हुये भी वात्सायन ने ब्राह्मण को वेद नहीं बतलाया है । मंत्र ब्राह्मण का विषय यज्ञ है—इस कथन से केवल यह अभिप्रेत है कि यज्ञ की सम्पन्नता में मंत्र और ब्राह्मण दोनों का उपयोग लिया जाता है । क्योंकि यदि मंत्र और ब्राह्मण को वात्सायन एक स्वीकार करता होता तो फिर न्याय भाष्य २।२।६७ पर[1] भी ब्राह्मण का ग्रहण करता । परन्तु वहाँ पर मंत्रार्थ के द्रष्टा और प्रवक्ता शब्दों का ही प्रयोग है । यहाँ इतिहास पुराण को ब्राह्मण से पृथक् कहा गया है—यह भी कोई बाधक प्रमाण नहीं । वक्ता के अभिप्राय पर यह निर्भर है कि इन्हें पृथक् करके कहे अथवा एक कहे । महर्षि ने जिन स्थलों पर संज्ञासंज्ञी भाव

---

[1] य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेद प्रभितीनामिति । न्याय भाष्य २।२।६७

माना है उन पर वह संगत है। वात्सायन के वाक्य का पृथक् अर्थ है। लेकिन यहाँ यदि उसने इन्हें पृथक् माना है तो वहाँ भी ऐसा ही अर्थ लिया जावे—यह कोई युक्ति नहीं। लोक में कण्टकारि का अर्थ यदि जूता है तो आयुर्वेद में भी यही अर्थ लिया जावे—यह ठीक नहीं।

ब्राह्मण वेद नहीं वेद के व्याख्यान हैं इस पर कुछ और भी युक्तियां नीचे दी जाती हैं—

१—ब्राह्मणों का स्वर भाषिक स्वर होता है जैसा कि पूर्व दिखला चुके हैं।

२—शतपथ ब्राह्मण में यजुर्वेद के कई अध्यायों के मंत्रों का क्रमिक विनियोग और व्याख्यान आदि मिलता है।

३—शतपथ १।१।१।१ व्रतमुपैष्यन्......अग्ने व्रतपते०। शतपथ १।१।४।८-९ में अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनम् तथा वृहद्ग्रावासि वानस्पत्य:०; ६।५।१२ में आपोहिष्टा मयोभुव०; इत्यादि अनेकों मंत्रों की प्रतीकें देकर व्याख्यान पाये जाते हैं। लगभग उपलब्ध सभी ब्राह्मणों में यह प्रक्रिया देखी जाती है।

४—चारों वेदों की आनुपूर्व्येण "ओं भूर्भुवः स्वः" आदि व्याहृतियें बतलायी गयी हैं (गोपथ पूर्वार्ध १।१८) यदि ब्राह्मण वेद होते तो उनकी भी कोई व्याहृति होती।

५—वेदों के ऋषि, देवता, छन्द आदि का वर्णन अनुक्रमणियों और वृहद्देवता आदि में पाया जाता है परन्तु ब्राह्मणों का क्रम नहीं पाया जाता है—अतः ब्राह्मण वेद नहीं।

६—वेद की वाणी नित्य है—परन्तु ब्राह्मणों में यह नित्यता नहीं है।

महर्षि की वेद में अनन्य भक्ति

महान् वेदप्रवक्ता वैदिकशास्त्रों के अप्रतिम विद्वान् आचार्य दयानन्द की वेदभक्ति के विषय में किसी को कोई सन्देह नहीं हो सकता है। वेद के प्रचार और प्रसार का सबसे बड़ा श्रेय उनको प्राप्त है। मैक्समूलर जैसों को भी यह स्वीकार करना पड़ा इन शब्दों में कि "दयानन्द सरस्वती कट्टरपन्थ के प्रतिनिधि थे"[१]। तथा अपने टिप्पण में महर्षि दयानन्द के नाम का परिचय देते हुये वह लिखता है कि "मन्त्र भाग को वे ईश्वरीय ज्ञान मानते थे और सुधारक के रूप में वे पश्चात्वर्त्ती वैदिक कुधारणाओं के विरोधी थे"[२]। इससे महर्षि की वेद में अनन्य-भक्ति सूर्यवत् स्पष्ट है।

परन्तु यह सब होते हुये भी दयानन्द रहस्य के लेखक ने

---

१. Of the Rigveda......two editions are now coming out in monthly numbers, the one published at Bombay, by what may be called the liberal party, the other at Prayag (Allahabad) by Dayanand Saraswati, the representative of orthodoxy. (India What Can It Teach Us by Maxomuller Page 69)

२. He regarded Vedas......as divine revelations, and as a reformer, he was abused to postvedic abuses.

India What Can It Teach Us—Notes page 224 Published in 1961 Second edition—Munshi Ram Manoharlal Delhi.

अपनी पुस्तक पृष्ठ १४६ से १५१ पर्यन्त महर्षि के ऊपर यह आक्षेप किया है कि वे वेदभक्त नहीं थे। इस पुस्तक के लेखक का यह कहना है कि स्वामी जी ने अपनी संस्कारविधि के सीमन्तोन्नयन संस्कार में ऋग्वेद के कुछ मंत्रों के पाठ में परिवर्तन कर दिया है। जो इस प्रकार मूलवेद के मंत्रों में परिवर्तन करे और एक मंत्र का भाग दूसरे मंत्र में और दूसरे मंत्र का भाग अन्य में लगा देवे वह वेदभक्त कैसे कहला सकता है।

इस लेखक के आक्षेप का समाधान यहाँ पर किया जाता है। लेखक ने वेद मंत्रों के जटा, माला, और घन पाठ के माध्यम से वेदपाठियों द्वारा वेद के सुरक्षित रखने की बात को स्वयं स्वीकार किया है। परन्तु जटा, माला और घन पाठ आदि भी विकृति ही माने जाते हैं। जब मंत्र का परिवर्तन करने वाला वेदभक्त नहीं हो सकता तो फिर ये विकृतियों से पाठ करने वाले किस प्रकार वेदभक्त कहे जा सकते हैं। तथा इनका यह जटा, माला आदि पाठ वेदभक्ति का प्रमाण क्योंकर बन सकता है।

जिन मंत्रों के परिवर्त्तन पर "यक्ता" जी को आक्षेप है—वे मंत्र ऋग्वेद ४।३२।४-५ में और संस्कारविधि के सीमन्तोन्नयन प्रकरण में निम्न प्रकार से मिलते हैं—

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतुत्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वी रंशतदायमुक्थ्यम्॥
यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा॥

ऋग्वेद २।३२।४-५

ये दोनों मंत्र अथर्व ७।४८।१-२ पर, मैत्रायणी शाखा ४।

१२।१५३; तैत्तिरीय शाखा ३।३।११, तथा काठक शाखा १३।१६ पर भी मिलते हैं। इनमें से प्रथम मन्त्र का निरुक्त ११।३१ पर भी उल्लेख है। सीमन्तोन्नयन में इन मंत्रों को इस रूप में भी दिया है और पश्चात् पुनः इनको उसी संस्कार में आगे चलकर निम्न रूप में दिया है—

ओं राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु। उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा ॥५॥ ओं कियत्त्मना सीव्यत्वपः सूच्या छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायुमुख्यम् ॥६॥ ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि। ताभिर्नो अद्य सुमनाश्यसि प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः ॥७॥ ऋग्वेद मंडल २। सूक्त ३२

यहाँ पर यह दिखलायी पड़ रहा है कि इस ऊपर दिये गये मन्त्र में उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा ॥ पाठ लगा दिया है और 'कियत्त्मना सीव्यत्वपः ॥ प्रथम मंत्र के भाग का एक स्वतन्त्र मंत्र ५ संख्या के साथ बना दिया गया है। मूल पाठ "शतदायमुक्थ्यम्" के स्थान में "शतदायुमुख्यम्" पाठ लिखा गया है। आगे "यास्ते राके" मंत्र में "अद्य सुमना" के स्थल पर "सुमनाश्यसि प्रजां पशून्सौभाग्यंमह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः॥ पाठ जोड़ दिया गया है। वैसे तो "राकामहं" "यास्ते राके" आदि दोनों मंत्र, मंत्र ब्राह्मण १।५।१-२ में भी मिलते हैं। परन्तु प्रथम मंत्र "राकामहं" में मंत्र ब्राह्मण में ऋग्वेद के मूल पाठ की अपेक्षा—पाठ भेद पाया जाता है। "ऋग्वेद में शृणोतु" पाठ है परन्तु मंत्र-ब्राह्मण में "शृणुत" पाठ है। "बोधतुत्मना" के स्थान में "बोधतु आत्मना" पाठ है और 'शतदायमुक्थ्यम्" के स्थान में 'शतदायुमुख्यम्" पाठ है।

यहाँ पर महर्षि ने जो पाठ परिवर्तन किया है; वह शास्त्र-संगत और उपयुक्त है। यहां पर "शतदायुमुख्यम्" पाठ तो मंत्र ब्राह्मण का रख दिया है। क्योंकि "अयमूर्ज्जावतो" मंत्र में मंत्र ब्राह्मण का प्रमाण महर्षि ने दिया ही है। वह इस बात का द्योतक है कि यह पाठ वहाँ का ही है। अब रह जाती है बात यह कि ऋग्वेद के "राकामहं" "यास्ते राके" मंत्रों से ५, ६, ७ संख्या के मंत्र बना दिये हैं। तथा अन्तिम मंत्र में पृथक् वाक्य ही जोड़ दिया है। महर्षि का ऐसा करना यहाँ पर कर्मकाण्ड में है। कर्मकाण्ड में कल्प आदि के अनुसार मंत्रों में ऐसे परिवर्त्तन किये जा सकते हैं। महाभाष्यकार १।१।१[1] पर पस्पशाह्निक में लिखते हैं कि "सारी विभक्तियों और सारे लिङ्गों के साथ वेद में मंत्र नहीं कहे गये हैं। अतः याज्ञिक पुरुष के द्वारा यथार्थ रूप में मंत्रों में विपरिणाम कर लेना चाहिए"। इसे ऊह कहा जाता है और यह व्याकरण के प्रयोजनों में एक है।

इस ऊह को मीमांसक भी मानते हैं और सभी याज्ञिक मानते हैं। महाभाष्यकार पुनः १।१।१ पर कहता है कि प्रयाजों को सविभक्तिक कर लेना चाहिए ऐसा याज्ञिक[2] कहते हैं। वाजसनेयि प्रातिशाख्य ८।२७ पर भी लिखा है कि 'वर्णशः अक्षरशः और विभक्तिपदशः" यह कार्य किया जाता[3] है। काठक शाखा[4]

---

१. न वैसर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदमंत्रा निगदिताः ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः। महा० १।१।१

२. याज्ञिकाः पठन्ति प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति। महा० १।१।१

३. वर्णशोऽक्षरशोज्ञानाद् विभक्तिपदशोऽपि च (वाज० प्रा० ८।२७)

४. प्रयाजानां विभक्तीः कुर्यात्...कस्मात् ? सविभक्तयः प्रयाजा भवन्तीति ॥ काठक ॥६।१

६।१ में भी कहा गया है कि प्रयाजों की विभक्तियां करनी चाहिएँ क्योंकि प्रयाज सविभक्तिक हुआ करते हैं। द्राह्यायण गृह्यसूत्र[1] १।१।१८ में मंत्र के आदि अन्त के ग्रहण करने का प्रकार बतलाया गया है। उस पर टीका करते हुये रुद्रस्कन्दीय वृत्ति के कर्त्ता विभिन्न प्रकार से मंत्रों के आदि और अन्त के ग्रहण करने के युक्ति और तर्क दिये हैं। वहाँ पर विनियोग, परिमाण और अर्थवश[2] मंत्र के परिमाण को निर्धारण करने का नियम दिखलाया गया है। वृत्तिकार यहाँ पर कहता है कि आकांक्षा आदि के अनुसार मंत्र की इयत्ता का परिच्छेद होता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र[3] ३।२।१ में ऊह का विधान किया गया है। उससे अगले सूत्र में यह बताया गया है कि ऊह करने पर मंत्रों में प्राकृत शब्द ही होंगे। इससे यह सिद्ध होता है कि मंत्रों में ऊह मंत्रस्थ पदों से विभक्ति लगाकर भी होता है और जो ऊहित पद लगाये जाते हैं वे प्राकृत ही होते हैं। परन्तु ऊह किये हुये पाठों के स्वर में अन्तर होना स्वाभाविक होगा यदि वे वेद मंत्र के प्राकृत शब्द नहीं हैं। यहाँ पर कर्मकाण्ड में मंत्रों में युक्त परिवर्तन की सम्मति शास्त्र ने दी है। अतः महर्षि ने मंत्रों के पदों का ऊह करके परिवर्तन सीमन्तोन्नयन में किया, उस परिवर्तन में दो मंत्रों के पदों का अथवा वाक्यों का अथवा मंत्र की इयत्ता का परिवर्तन किया। अन्त में "सुमनाश्यसि प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः" वाक्य

१. मन्त्रान्तमव्यक्तं परस्यादिग्रहणेन विद्यात्। द्रा. १।१।१८
२. अर्थवशेन विनियुक्तं परिमाणयुक्तं च विद्यात्। रुद्रस्कन्द। १।१।१८
३. प्रकृतौ समर्थनिगमेषु॥ प्राकृतास्त्वेव मंत्राणां शब्दाः। आ० श्रौ० ३।२।१

सीमन्तोन्नयन संस्कार के अनुरूप करने के लिए ऊहित किया है। **इस वाक्य में स्वरों के चिन्ह** भी नहीं लगे हैं। अतः यह निश्चित है कि यहाँ पर मंत्र के बाहर से पद लाकर ऊह किया गया है। यह पाठ वेदमंत्र का न होने से इसमें उदात्त आदि स्वर नहीं बन सकते। यह पाठ भाषिक स्वर का ही हो सकता है। महर्षि ने यहां पर उसको वैसा ही रखा है।

इन नियमों के आधार पर ही आचार्यों ने कर्मकाण्ड में मंत्रों के परिवर्तन में ऊह किया है। अगर ये आचार्य वेदभक्त हैं तो उस नियम पर चलने वाले महर्षि वेदभक्त क्यों नहीं ? साथ ही मंत्र ब्राह्मण में भी तो ऋग्वेदीय "शृणोतु" पाठ के स्थान में "शृणुत" और "शतदायमुक्थ्यम्" के स्थान में "शतदायुपुरुयम्" पाठ कर ही दिया गया है। मंत्र ब्राह्मणकार ऐसा करके वेद-भक्त है और महर्षि दयानन्द नहीं—यह कैसी विचित्र बात है। इसके अतिरिक्त शाखाकारों ने जो मंत्रों के परिवर्तन किये हैं उनको क्या अधिकार प्राप्त था ? यदि उनका यह कार्य वेद-भक्ति का बाधक नहीं तो महर्षि दयानन्द का भी कार्य उनकी वेदभक्ति में बाधक नहीं।"

"मम व्रते० "मंत्र का पाठ पारस्कर के अनुसार यज्ञोपवीत और विवाह दोनों में कर्म के प्रसंग से विनियुक्त है। विवाह में तो पारस्कर में 'प्रजापतिष्ट्वा नियनक्तु मह्यम्" (पारस्कर १।८) पाठ है। यही जब यज्ञोपवीत में आया तो "बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्" (पार० २।२) पाठ है। आश्वलायन गृह्य-सूत्र में १।२१।५ पर यज्ञोपवीत में "मम व्रते हृदयं ते दधामि" पाठ है जबकि पारस्कर का पाठ "मम व्रते ते हृदयं दधामि" है। सी प्रकार पारस्कर १।३।६ में "उद्यतामिव सूर्यः" पाठ है और

आश्वलायन १।२४।८ में "विद्युतामिव सूर्य:" पाठ है।

निरुक्त ५।१८ पर "निचुम्पुण" पद पर यास्क ने लिखा है कि इसका अर्थ सोम है। ऋग्वेद ८।६३।२२ मंत्र की वहाँ पर प्रतीक दी है। यास्क कहता है कि समुद्र भी निचुम्पुण है। परन्तु दुर्ग कहता है कि इसका निगम ढूँढना चाहिए। यास्क लिखता है कि 'अवभृथ निचुम्पुण इत्यपि निगमो भवति— निचुम्पुण निचुंकुणेति च—अर्थात् 'अवभृथ निचुम्पुण" यह भी निगम है और "निचुंकुण" की भी व्याख्या ऐसी ही समझनी चाहिए। यहाँ पर दुर्ग ने जो निगम दिया है (अवभृथ निचुम्पुण) वह यजुर्वेद मूल संहिता ३।४८ के पाठ से पूर्णतया नहीं मिलता है। यजु ८।२७ पर जो पाठ है; उससे भी पूर्णतया नहीं मिलता है। मैत्रायणी १।३।३९ पर निम्पुण निचुम्पुण" पाठ के स्थान में "निचुङ्कुण" पाठ है। कपिष्ठल शाखा में "निचुम्पुण" पाठ है। दुर्ग का पाठ प्राय: मैत्रायणी से मिलता है परन्तु मैत्रायणी में निचुम्पुण पाठ न होकर निचुंकुण पाठ है। यास्क को यहाँ पर मूल यजुर्वेद का पाठ अभिप्रेत है। दुर्ग ने मैत्रायणी का पाठ दिया। उसमें निचुम्पुण पाठ नहीं परन्तु दुर्ग ने निचुम्पुण पाठ दिया है। दुर्ग का पाठ मैत्रायणी और कपिष्ठल का मिश्रण है। यहाँ मूल यजुर्वेद के पाठ का शाखाओं में पाठ परिवर्त्तन, पुनः उनका भी दुर्ग द्वारा परिवर्त्तन—यदि वेद भक्ति में आ सकते हैं तो महर्षि दयानन्द क्यों नहीं आ सकते ? मूल वेद का पाठ "निचुम्पुण" है और निचुङ्कुण उसका अर्थ है।

ऋग्वेद १०।८५।३७ मंत्र में, 'तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व··· या न उरू उशती वि श्रयति" पाठ है। अथर्व में तां पूषं··· उरू विश्रयाति" पाठ है। इसी मंत्र के अन्तिम चरण में ऋग्वेद में

"प्रहराम शेपम्" और अथर्व १४।२।३८ पर "प्रहरेम शेपः" पाठ है। यास्क ने ३।२१ पर ऋग्वेद वाले पाठ की प्रतीक दी है। परन्तु पारस्कर गृह्यसूत्र में (१।४।१६) "सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न उरू उशती विहर। यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामु कामा बहवो निविष्टयै" पाठ पढ़ा गया है।

यहाँ पर मूल मंत्र के पाठ में ही भेद नहीं कर दिया गया है। बल्कि "यस्यामु कामा बहवो निविष्टयै" पाठ बाहर से जोड़ दिया गया है। ठीक यही बात महर्षि ने संस्कारविधि में "यास्ते राके" मंत्र में पृथक् पाठ जोड़कर की है। यदि पारस्कराचार्य वेदभक्त हैं तो महर्षि भी वेदभक्त हैं ही। बोधायन गृह्यसूत्र में "त्वा पूषन्" पाठ है। यास्क ने निरुक्त ३।२१ पर "कृत्तिवासाः पिनाकहस्तोऽवततधन्वा" पाठ माना है। तैत्तिरीयशाखा १।८।६ में 'अवततधन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः पाठ है और मैत्रायणी में १।१०।४ पर "पिनाकहस्तः कृत्तिवासा अवततधन्वा" पाठ है। काठकशाखा ६।८ पर "कृतिवासाः पिनाकहस्तोऽवततधन्वा" पाठ है। यही यास्क ने दिया है। जबकि मूल वेद का पाठ यजुः ३।६१ में अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाः" है। यहाँ पर यक्ता जी बतावें कि यह परिवर्त्तन मूल पाठ में क्यों किया गया।

यजुर्वेद ३३।४३ मंत्र में "आकृष्णेन रजसा" पाठ है। निरुक्त समुच्चय में आचार्य वररुचि ने "आ सत्येन रजसा" पाठ मान कर व्याख्या की है। भुवनानि पश्यन् के स्थान में "भुवना विपश्यन्" पाठ माना है। यजुः का पाठ "भुवनानि पश्यन्" है। यहाँ पर वररुचि कहता है कि "कृष्णेन इति दाशतयीष्वाह" अर्थात् कृष्णेन पाठ ऋग्वेद का है। यह पाठ ऋग्वेद १।३५।३

पर पाया जाता है। तैत्तिरीय शाखा का पाठ "सत्येन" है। देखें तैत्तिरीय शाखा ३।४।११। निरुक्त समुच्चय लाहौर संस्करण २।३३ पर वररुचि का यह उल्लेख मिलता है।

निरुक्त १०।१८ पर यास्क ने "पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह, वसोष्पते निरामय मय्येव तन्वं मम" मंत्र दिया हैं। अथर्व में १।१।२ में वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्" पाठ है। मैत्रायणी शाखा ४।१२।१ में "उपप्रेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह। वसुपते विरमय मय्येव तन्वं मम" पाठ है। यह परिवर्तन क्यों है ? 'यक्ता' के मान्य आचार्य श्री शंकर ने वेदान्त १।१।२५ पर "तावानस्य महिमा" पाठ लिखा है। यहाँ पर वे "एतस्यामृचि" लिखते हैं। परन्तु ऋग्वेद का पाठ १०।६० सूक्त में "एतावानस्य' है। यहीं पर पुनः "एतदृचाभ्यनूक्तम्" लिख कर "तावानस्य" पाठ ही दिया है। यह उपनिषद् का पाठ ज्ञात होता है। यदि उपनिषद् के कर्त्ता और आचार्य शंकर पाठ बदल सकते हैं तो फिर दूसरों पर आपत्ति करने का क्या अर्थ है ? । वेदान्त १।१।३ सूत्र "शास्त्रयोनित्वात्" पर जो श्लोक दिया गया है; उसमें "विरूप नित्यया वाचा" पाठ दिया गया है जब कि ऋग्वेद ८।७५।६ पर "वाचा विरूप नित्यया" पाठ है। यह विपर्यास क्यों ? । गायत्री मंत्र तीनों वेदों में पाया जाता है। सनातन धर्मी भाई उसके जाप का बड़ा महत्व बखानते हैं। परन्तु उसमें २४ अक्षर पूरे नहीं पड़ते। अतः वह गायत्री छन्द नहीं बनता है। पिंगलाचार्य ने छन्द: सूत्र ३।१ "इयादिपूरण:" से 'वरेण्यम्' को "वरेणियम्" कहकर पूरा किया है। क्या यह परिवर्त्तन नहीं है ? । यजुर्वेद ३।६ का मंत्र निम्न-प्रकार है—

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा। अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा सूर्योवर्चोज्योतिर्वर्चः स्वाहा। ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥

पुनः ९।१० निम्न प्रकार है—

सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा। सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥

परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण पंचम पंचिका पंचम अध्याय के ३१ वें वाक्य में इनसे सायं और प्रातःकाल की आहुतियों के मंत्र बना दिए गये हैं। दो मंत्रों को काट काट कर कई मंत्र बना दिये गये। "आपोज्योतिरसोऽमृतं भूर्भुवः स्वरोम् स्वाहा" पाठ भी बढ़ा दिया गया है। वैदिक छन्दों को लौकिक काव्य रचना में प्रयुक्त करना भी तो दोष ही है। कवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल अङ्क ४ श्लोक ४ में लिखा है" कण्वः— (ऋक् छन्दसाऽऽशास्ते)

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः,
समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धै,
वैंतानास्त्वा वह्नयः पावयन्तु ॥

इस प्रकार एक वैदिक छन्द में लौकिक काव्यरचना कालिदास ने की है। जब इतने परिवर्त्तन करने वाले आचार्य लोग, ऋषि लोग वेदभक्त हैं तो फिर दयानन्द वेदभक्त क्यों नहीं ?। अस्तु ! इन प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया गया कि दयानन्द परम वेदभक्त थे।

महर्षि की अद्वितीय व्याकरणप्रतिभा

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्ष परम्परा के एक परम भक्त आचार्य थे। उन्होंने अष्टाध्यायी और महाभाष्य आदि की शिक्षा व्याकरण के सूर्य गुरुवर विरजानन्द से प्राप्त की थी। महर्षि व्याकरण शास्त्र के कितने उद्भट, प्रतिवादि-भयंकर और अद्वितीय विद्वान् थे; यह उनके ग्रन्थ अष्टाध्यायी भाष्य, वेदाङ्ग प्रकाश तथा अन्य ग्रन्थों के व्याकरण सम्बन्धी प्रसंगोचित वर्णनों से सुतरां विदित है। अपने को महा वैयाकरण कहलाने वाले दीक्षित आदि का जिन स्थलों पर उन्होंने खण्डनात्मक निर्देश किया है; उनको देखने से भी यह ज्ञात हो सकेगा कि वास्तविकता क्या थी? दयानन्दरहस्य पुस्तक के लेखक ने महर्षि को अवैयाकरण सिद्ध करने के लिए व्यर्थ के आक्षेप किए हैं। यह उसकी अपनी शालीनता है कि वह अपने लेख में महर्षि और उनके अनुयायियों के प्रति अत्यन्त भद्दी और निकृष्टतम भाषा का प्रयोग करता है। जिस व्यक्ति को यह भी नहीं ज्ञात है कि शुद्ध शब्द "उपरोक्त" है अथवा और कुछ और उसके सारे ग्रन्थ में यह "उपरोक्त" भरा पड़ा है वह दूसरे महान् आत्मा की व्याकरणज्ञता पर विचार उठाए और आक्षेप करे—कितने खेद और लज्जा की बात है। व्याकरण और वैयाकरण पद की सिद्धि भी जिसको नहीं आती उसका इस प्रकार का साहस करना आज कल की भाषा में क्या कहा जावे, विज्ञ पाठक ही समझें। अपशब्दों के प्रयोग करने से संसार में कोई न विद्वान् गिना जाता

है और न इससे कोई विषय सिद्ध किया जा सकता है। मैं यहां बुरे शब्दों का उत्तर लेखक को उसी सिक्के में देकर अपनी भाषा को अपवित्र नहीं करना चाहता। केवल उठाये गये प्रश्नों पर ही विचार करना चाहता हूँ।

अष्टाध्यायी ८।३।७८ सूत्र (इणःषीध्वं लुङ् लिटां धोऽङ्गात्) सूत्र से दीक्षित आदि ने "ऐढिढ्वम्" प्रयोग बनाया है। यह सुतराम् अशुद्ध है। क्योंकि यहां पर "सान्त" अङ्ग तो पाया जाता है "इणन्त" अङ्ग नहीं। सूत्र इणन्त अङ्ग पर ही लागू होता है। अष्टाध्यायी ३।१।४१ "विदां कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्" सूत्र से पाणिनि के अनुसार विद् धातु का लोट् लकार के अन्य पुरुष के बहुवचन में "विदाङ् कुर्वन्तु" प्रयोग विकल्प से बनता है। जिस पक्ष में इस सूत्र से 'आम्' आदेश नहीं होता है उस पक्ष में विदन्तु प्रयोग बनता है। दीक्षित आदि ने इस सूत्र में पढ़े गए "इति" पद को लेकर यह व्यवस्था बनाई है कि पुरुष-वचन की यहां पर विवक्षा नहीं (पुरुषवचने न विवक्षिते)। अतः विदाङ् करोतु, विदाङ् कुरुतात, विदाङ् कुर्वन्तु आदि सभी वचनों और तीनों पुरुषों में विद् का प्रयोग बनेगा। यह अर्थ वह सूत्र में पड़े 'इति' पद से लेता है। परन्तु इससे अगले सूत्र ३।१।४२ में "अभ्युत्सादयां॰ विदामक्रन्निति छन्दसि" सूत्र में भी इति पद पड़ा है। यहां पर दीक्षित आदि 'इति' पद से "पुरुष और वचन की विवक्षा नहीं है"—इस अर्थ को नहीं ग्रहण करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ३।१।४१ सूत्र में जो सभी पुरुषों और सभी वचनों में प्रयोग दीक्षित आदि ने बनाये हैं—पाणिनि के विरुद्ध हैं। इन दोनों उदाहरणों में दिखलाये दोषों का दीक्षित के अनुयायी जन अथवा महा वैयाकरण 'यक्ता' जी ही जरा निराकरण करके दिखावें और दीक्षित के

प्रयोगों को सिद्ध कर देवें। महर्षि ने ये त्रुटियां इनके ग्रन्थों में निकाली हैं। यह तो संक्षेप से वर्णन है। दीक्षित आदि ने महाभाष्य से विरुद्ध दिशा अनेकों स्थलों पर पकड़ी हैं।

समाधान

यहाँ पर यक्ता जी के आक्षेपों का समाधान किया जाता है।

१—संस्कृतवाक्यप्रबोध में "शाकमानयनाय" प्रयोग अशुद्ध है, "शाकमानेतु अथवा शाकस्यानयनाय' ऐसा प्रयोग होना चाहिए था। यहां पर उन्होंने व्यर्थ की अप्रासंगिक बातें अपने ग्रन्थ में बना रखी हैं। संस्कृतवाक्यप्रबोध महर्षि की कृति है—इसको आर्यजन मानते हैं। इसमें की गई अशुद्धियों को पंडितों के सिर पर मँढते हैं—इसके छेड़ने से ग्रन्थ व्यर्थ में बढ़ जाता है, अम्बिकादत्त व्यास ने इस ग्रन्थ में बहुत सी अशुद्धियाँ दिखायीं यह भी यहाँ पर कुछ अर्थ नहीं रखता है। उनके द्वारा दिखाई गई अशुद्धियों को अथवा आप जिन को अशुद्धियां समझते हैं यदि यहां प्रस्तुत किए होते तो उन पर विचार किया जाता। इतनी बड़ी व्यर्थ की भूमिका बाँधने के पश्चात् भी संस्कृतवाक्यप्रबोध का केवल एक वाक्य मात्र ही प्रस्तुत किया। खोदा पहाड़ और मिली मूषिका—वह भी मरी हुई।

"शाकस्यानयनाय" वाक्य यदि छपते समय प्रेस में अशुद्ध रह जावे तब भी "शाकमानयनाय" बन सकता है। क्योंकि "स्यानयनाय' भाग का 'मानयनाय" हो जाना संभव है। परन्तु यदि ऐसा ही मान लिया जावे तब भी इसे अशुद्ध कहने का साहस व्यर्थ है। शास्त्र को न पढ़ा और असंस्कृतज्ञ ही ऐसी बात कर सकता है।

यास्क ने "ज्या" भी गौः का अभिधेय है, इस बात को सिद्ध

करने के लिये ऋग्वेदीय १०।२७।२२ मंत्र को निरुक्त २।६ पर उपस्थित कर व्याख्यान किया है। मंत्र में "प्रपतान् पुरुषादः" पद पड़े हैं। यास्क "प्रपतान्" का अर्थ प्रपतन्ति" करता है। समूचे वाक्य का अर्थ करते हुए वह लिखता है "ततो वयः (इषवः) प्रपतन्ति पुरुषानदनाय" अर्थात् पुरुषों को खाने के लिए बाण गिरते हैं। महर्षि के संस्कृतवाक्यप्रबोध का वाक्य आपके अनुसार है "सक्व गतः ? शाकमानयनाय नगतः" है। इस वाक्य में आप अशुद्धि दिखला रहे हैं परन्तु यास्क का वाक्य क्या है ? वयः प्रपतन्ति पुरुषानदनाय"। यहाँ महर्षि और यास्क के वाक्यों में व्याकरण के नियम का समान रूप से आपके अनुसार उल्लंघन और विज्ञों के अनुसार पालन है। क्या यास्क को भी व्याकरण नहीं आता था। यदि यास्क का यह प्रयोग शुद्ध है तो महर्षि का प्रयोग अशुद्ध कैसे हो सकता है ?।

२—महर्षि ने यदि अपनी अशुद्धि को कहीं पर स्पष्ट अशुद्धिस्वीकार किया तो वह उनकी उदारता, सौजन्य, विद्वत्ता और महत्त्व का ही द्योतक है। इस उदारता का अर्थ यह नहीं कि उन्हें व्याकरण नहीं आता था। बहुधा विद्वान् की प्रशंसा करने पर यही उत्तर उससे मिलता है कि "मैं तो कुछ भी नहीं हूँ"। क्या इस उदारता का यह अर्थ है कि वह वस्तुतः कुछ भी नहीं है। व्यास[1] ने यह स्वीकार किया है कि "कर्मगति" मनुष्यधर्माओं से दुर्विज्ञाना है। क्या इसका यह अर्थ लगाया जावे कि वे कुछ भी इस विषय में नहीं जानते थे और इस विषय में जो कुछ भी लिखा है वह सर्वथा ही गलत है।

---

१. देखें योगदर्शन व्यासभाष्य सूत्र २।१२-३॥

३—"श्रीकृष्णः शरणं मम" का जो अर्थ महर्षि ने किया वह ठीक ही है—क्योंकि जिनका वहाँ पर ११वें समुल्लास में खण्डन किया जा रहा है उनका वास्तविक व्यवहार ऐसा ही है। "श्री कृष्णः शरणं मम" वाक्य का अन्वय दो प्रकार से होगा। प्रथम "श्रीकृष्णः मम शरणम्" और दूसरे "मम शरणं श्रीकृष्णः"। प्रथम का अर्थ होगा कि "श्रीकृष्ण मेरी शरण" है और दूसरे का अर्थ होगा कि मेरी शरण श्रीकृष्ण है। क्या यहां महर्षि का अर्थ नहीं निकलता है? "शरण' शब्द के साथ आगत शब्द को बिना लगाए—यह अर्थ नहीं निकल सकता है तो दूसरे अर्थ में भी तो आगत शब्द लगाना ही पड़ेगा अन्यथा मैं श्रीकृष्ण के शरणागत हूँ"—यह अर्थ भी तो नहीं निकल सकेगा। यह भी तो यक्ता जी को बतलाना चाहिए था कि यह मंत्र कहां का है शाखा का या संहिता का । साथ ही पुष्टी सम्प्रदाय में गोलोक में कृष्ण ही एक पुरुष है शेष सब स्त्रियां हैं—इसको भी तो सिद्ध करने की हिम्मत करनी चाहिये थी। चमत्कार है आप की बुद्धि का। भला! "मथुरा में एक संन्यासी सत् पुरुष मुझे गुरु मिले" इस वाक्य का अर्थ "उक्त संन्यासी मुझे गुरु समझकर मिले" किस प्रकार हो सकता है। किसी भी अवस्था में यह अर्थ संभव नहीं। किसी हिन्दी भाषा के ज्ञाता से तो अर्थ पूछ लेना चाहिए था। संस्कृत वाक्य और हिन्दी वाक्य का अन्तर भी तो समझना चाहिए था।

४—दयानन्दरहस्य के लेखक का बार-बार प्रथम संस्करण संस्कार विधि का हवाला देना व्यर्थ है। जब महर्षि ने अपने समय में ही संस्कारविधि का संशोधित संस्करण छपवा दिया और आर्यसमाज प्रथम संस्करण को मानता ही नहीं तो फिर

उसका व्यर्थ में उल्लेख यहाँ किसी प्रयोजन का साधक नहीं। संस्कारविधि के नामकरण संस्कार में महर्षि ने गृह्यसूत्रों के प्रमाण मात्र दिये हैं; उनका अर्थ वहाँ पर किया ही नहीं है। तथा नाम रखने का जो विधान किया है; वह उनका अपना कथन है और अपनी विधि है। यह किसी सूत्र का अर्थ उन्होंने नहीं किया है। जब अर्थ उन्होंने किया ही नहीं है तो फिर उसे अर्थ बताकर दोष बताने का कोई भी अर्थ नहीं। जब सूत्रों का अर्थ वह नहीं हैं बल्कि महर्षि का स्वतंत्र वाक्य है तो फिर उसे अर्थ बताकर उसका अन्यथा अर्थ लेना स्वयं यह सिद्ध करता है कि आक्षेपकर्त्ता को स्वयं भी इतना व्याकरण नहीं आता है कि वह आसत्ति, योग्यता और आकांक्षा से वाक्य का अर्थ समझ सके।

घोष क्या है ? अघोष आदि क्या हैं ? इसका विशद वर्णन उनकी बनाई वर्णोच्चारण शिक्षा में देखा जा सकता है। इस पुस्तक को बिना देखे हुये कुछ का कुछ लिखना और कहना इस न्याय को ही चरितार्थ करता है—मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी। दयानन्दरहस्य के लेखक नामकरण संस्कार में नीचे दी हुई टिप्पणी को किसी अन्य की समझते हैं। वस्तुतः वह टिप्पणी भी महर्षि की ही है। स्त्री का एक, तीन, पांच अक्षरों का नाम रखे–यह कथन "विषमाक्षर की व्याख्या ही है। इसमें कोई अन्तर नहीं है।

४ अ–४ इ एवं ५ वाँ प्रश्न उत्तर देने योग्य नहीं क्योंकि इसका सम्बन्ध उस पुस्तक से लेखक बतलाता है जो मानी नहीं जाती है।

६—"उत्तरतो ऽग्नेः" का अर्थ "अग्नि को सम्मुख रखके"

नहीं किया गया है। संस्कारविधि में ऐसी विधि लिखी गयी है—आचार्य यज्ञ कुण्ड के उत्तार की ओर पूर्वाभिमुख बैठे और बालक आचार्य के सम्मुख पश्चिम में मुख करके बैठे। आश्वलायन[1] गृह्यसूत्र १।२१। २-३ सूत्रों का यही भाव भी है। यहाँ पर भी अग्नि के उत्तर से तात्पर्य अग्निकुण्ड के उत्तार से ही है। क्योंकि केवल अग्नि से किसी दिशा का ज्ञान करना अग्नि की गति के सापेक्ष होगा और उससे समुचित कर्म करने में बाधा होगी। अग्नि की ऊर्ध्व गति मानी जाती है।

"अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥ ऋग्वेद १०।१०।१० यमयमी सूक्त के मंत्र के अर्थ को भी महर्षि ने नियोग में लगाया है—ठीक ही अर्थ किया है। यमयमी का अर्थ पति-पत्नी है। उनका इसमें परस्पर वर्णन है। यहाँ पर भाई बहिन का संवाद है—इसका कोई प्रमाण तो देना चाहिये था। यह अशुद्धि नहीं है, शुद्धि है।

७—यह "सुनावै" अर्थ "आश्वलायन गृह्यसूत्र के १।२२। ५। (यथाशक्ति वाचयीत) का अर्थ नहीं है। यक्ता जी की समझ का फेर ही। "वाचयीत" का भाव तो "ओंभूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम्" एक इतना टुकड़ा एक-२ पद का शुद्ध उच्चारण बालक से कराके" में आता है। "सुनाये" तो स्वतंत्र विधि है। जो गायत्री मंत्र के अर्थ सुनाने के लिए है।

८—ऐसा अर्थ संस्कार विधि में कहीं पर भी नहीं किया गया है। दयानन्द रहस्य के लेखक का कथन महर्षि की प्रतिभा

१—हुत्वोत्तरतो ऽग्नेः प्राङ्मुख आचार्योऽवतिष्ठते ॥२॥ पुरस्तात्प्रत्यङ्मुख इतरः ॥३॥

का तो कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है परन्तु उसके अपने व्याकरण ज्ञान की छीछालेदर अवश्य कर देता है और इस लेखक के शब्दों में ही इसकी ही कहावत को यहाँ पर चरितार्थ समझना चाहिए—उल्टी समझ किसी को भी ऐसी खुदा न दे। दे आदमी को मौत पर यह बद अदा न दे।

९—संस्कारविधि में "वधू के केशों को खोले" ऐसा वाक्य लिखा हुआ है। इसका आश्वलायन गृह्यसूत्र १।७।१६ (अथास्यैशिखे विमुञ्चति) से संगति ठीक लग जाती है।

१०—संस्कारविधि विवाह संस्कार के प्रकरण में समञ्जन्तु विश्वेदेवा:" मंत्र दिया गया है। परन्तु वहाँ पर "न आँजन आंजे लिखा है और न कोई और बात। परन्तु "सुमङ्गली रियम्" मंत्र से आज कल सनातनी कहलाने वाले बन्धु कन्या की माँग में वर से सिन्दूर डलवाते हैं और कन्या के साथ नायी की स्त्री भी फेरे लगाती है—यह विधि और अर्थ किस गृह्यसूत्र से निकला है।

इन दश प्रश्नों का उत्तर दिया गया; ये प्रश्न नहीं प्रश्नाभास हैं। महर्षि की व्याकरण की योग्यता का परिज्ञान उन को हो सकता है; जो व्याकरण को जानते हैं। महर्षि ने काशी के शास्त्रार्थ में एक प्रश्न यह पूछा था कि व्याकरण शास्त्र में "कल्मसंज्ञा" होती है वा नहीं और यदि होती है तो कहाँ पर"। न काशी के उस समय के बाल शास्त्री आदि विद्वान् उत्तर दे सके थे और न आज तक किसी सनातनी वैयाकरण ने दिया है। जब कि यह प्रश्न एक साधारण सा प्रश्न है।

दर्शनतत्त्व-तत्त्वदर्शी दयानन्द

"दयानन्दरहस्य" के लेखक ने "अद्वितीय दार्शनिक दयानन्द" शीर्षक के नीचे पृष्ठ १६५ से १६४ पर्यन्त यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती को दर्शन का परिज्ञान नहीं था। उसी लेखक ने जिस क्रम को अपनाया है उसी क्रम से यहाँ पर उत्तर भी दिया जाता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती एक अद्वितीय तत्त्वदर्शी थे। उनके ग्रन्थों के पढ़ने से यह सुतराम् परिज्ञात हुए बिना नहीं रह सकता कि वे कितने महान् तार्किक, तत्त्वज्ञ और दर्शनतंत्रनिष्णात महात्मा थे। उन पर आक्षेप करना सूर्य पर धूल फेंकने के ही समान है। जो तर्क अपने ग्रन्थों में उन्होंने किये हैं—आज तक विपक्षियों से उन के समाधान नहीं बन सके। दयानन्द रहस्य के लेखक से पौराणिक विचार धारा के खण्डन में किये गये तर्कों का समाधान तो बन नहीं सका क्योंकि वे अकाट्य थे—उसने केवल महर्षि के ग्रन्थों में वैशेषिक आदि दर्शनों के सूत्रों पर किये गये व्याख्यान की त्रुटियाँ दिखाने का असफल प्रयत्न किया है। परन्तु यहाँ पर यह दिखला दिया जावेगा कि महर्षि द्वारा किये गये उक्त व्याख्यान सर्वथा संगत हैं।

(१) दर्शनों को कल्प अङ्ग में गिनना सुतराम् उपयुक्त और युक्तिसंगत है। चूँकि दयानन्द रहस्य के लेखक को न तो कल्प का परिज्ञान है और न दर्शन का, अतः वह जो कुछ लिखे विद्वज्जनों और विचारकों से उपेक्षणीय ही है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण,

छन्दः, निरुक्त और ज्योतिष—ये वेद के छः अङ्ग माने जाते हैं। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त—ये छः दर्शन वेद के उपाङ्ग कहे जाते हैं। यहाँ यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि छः दर्शन जो वेदों के उपाङ्ग हैं उनका कोई सम्बन्ध वेद के अङ्गों से भी तो होना ही चाहिए और वह है अथवा नहीं? इसी प्रकार समाधान भी स्वाभाविक ही है। छः अङ्गों में शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष अपने-अपने विशेष विषयों से सम्बन्ध रखते हैं और उन विषयों का दर्शनों से कोई सम्बन्ध भी नहीं देखा जाता है। केवल कल्प अङ्ग एक ऐसा है, जिससे इनका सम्बन्ध हो सकता है। कल्प अङ्ग केवल कर्मकाण्ड को ही नहीं बतलाता है—वह ज्ञान काण्ड पर भी प्रकाश डालता है। कल्प के तीन विभाग हैं—गृह्य, श्रौत और धर्म। गृह्यसूत्र गृह्य संस्कारों आदि और श्रौत सूत्र श्रौत यज्ञ, यागों का वर्णन करते हैं। धर्मसूत्र वर्णाश्रम धर्म, राजनीति और कर्त्तव्य (जो ज्ञान, कर्म और उपासना से सम्बन्ध रखता है) आदि का भी वर्णन करते हैं। कर्म कई समस्याओं का उत्तर चाहता है, जब कि उसके रहस्य एवं फल पर विचार किया जाता है। कर्म में कौन सा कर्म कर्त्तव्य है और क्यों है इत्यादि समस्यायें खड़ी होती हैं। इसका समाधान करने में कर्मकर्त्ता, जगत् और जगत् के अञ्चल में कार्य करने वाली शक्ति परमेश्वर का विचार सर्वथा अपेक्षित है। इन्हीं विषयों का विचार दर्शन करते हैं—अतः वे कल्प के अन्दर आते हैं। मीमांसा दर्शन तो स्पष्ट ही कल्प का वर्णन कर रहा है। यही कारण है कि महर्षि ने कहा है कि इन्हें कल्प अङ्ग में भी गिनना चाहिए। इस गम्भीर तत्त्व को न समझ कर यत्का ने जो अनर्गल प्रलाप किया है—सर्वथा ही उपेक्षणीय है।

महर्षि ने यह भी नहीं कहा है कि दर्शनों पर इन सब ऋषियों के भाष्य उपलब्ध हैं। उनका तो कथन इतना ही है कि नवीनों के भाष्य न पढ़ कर ऋषि महर्षियों के भाष्य पढ़ें पढ़ावें। उन्होंने "पढ़ें पढ़ावें" ही शब्दों का प्रयोग भी किया है। जो भाष्य मिलते हैं उन्हें पढ़ना पढ़ाना चाहिए और जो नहीं मिलते हैं उन की खोज करना भी तो पढ़ने पढ़ाने का ही विषय है। वे जब मिलेंगे तब पढ़े पढ़ाये जावेंगे। आर्ष पाठविधि क्या हो ?— महर्षि ने तो इसका स्वरूप बताया है। यह कहाँ लिखा है कि ये सब भाष्य उपलब्ध हैं। ये थे इसमें सन्देह नहीं—क्योंकि योग, न्याय वैशेषिक पर तो भाष्य मिलते ही हैं।

बौधायनवृत्ति वेदान्त पर थी—यह तो आचार्य रामानुज[1] और सर्वदर्शनसंग्रह के कर्त्ता माधवाचार्य ने माना ही है। प्रपञ्चहृदय के उपाङ्ग[2] प्रकरण में मीमांसा शास्त्र पर भी बौधायन वृत्ति का होना वर्णित है। वहाँ पर मीमांसा के २० अध्याय लिखे हैं। वर्तमान समय में पूर्व और उत्तर मीमांसा को मिला कर १६ अध्याय ही बनते हैं। मीमांसा पर कृतकोटि नाम का भाष्य था और वह बौधायनकृत था। यह ग्रन्थ बड़ा था अतः

---

[1]भगवद्बौधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः। तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते। वेदान्त १।१।१ पर रामानुज; तथा रामानुज दर्शन प्रकरण में ऐसा ही सर्वदर्शन संग्रह में भी लिखा है।

[2]तस्य विंशत्यध्यायमीमांसाशास्त्रस्य कृतकोटि नामधेयं भाष्यं बौधायनेन कृतम्। तद्ग्रन्थबाहुल्यादुपेक्ष्य किञ्चित्संक्षेपमुपवर्षेण कृतम्। ब्रह्मकांडस्य भगवत्पादब्रह्मदत्तभास्करादिभिर्मतभेदेनापि कृतम्। प्रपंच हृदये उपाङ्ग प्रकरणे श्रीगणपतिशर्मद्वारा संशोधिते प्रकाशिते॥

कुछ संक्षेप उपवर्ष ने किया। ब्रह्मकाण्ड का भगवत्पाद ब्रह्मदत्त और भास्कर आदि ने मतभेद से भाष्य किया। यक्ता जी के पूज्यपाद शंकर ने भी वेदान्त।१।३।२८ के भाष्य पर आचार्य उपवर्ष को आदरपूर्वक स्मरण किया[1] है।

यह बौधायन वृत्ति विशिष्टाद्वैतवाद परक थी—यह भी यक्ता का कथन प्रामाणिक नहीं। उनका यह कथन तो ऐसा है कि मानो साक्षात् उन्होंने देखा ही हो। उनको यह भ्रम रामानुजाचार्य के उपर्युक्त वाक्य से हुआ होगा।

भागुरि वृत्ति के विषय में लिखते हुए यक्ता जी कहते हैं कि भागुरि नाम का कोई मुनि सांख्यसंसार में ही नहीं है। परन्तु बहुत से और भी ऐसे मुनि हैं जिनको यक्ता जी ने सांख्यसंसार में नहीं पाया होगा। सांख्याचार्यों[2] का विशेष वर्णन मैं अपने ग्रन्थ दर्शनतत्त्वविवेक में कर रहा हूँ, जो छपने पर देखा जा सकेगा। महाभाष्य की (महाभाष्य ७।३।४५) जिस भागुरी का वर्णन यक्ता जी ने किया है वह स्त्री थी। वह टीका भी "भागुरि" नहीं, भागुरी है। अतः कैयट ने भी लिखा है "वर्णिकेति व्याख्यानीत्यर्थः, भागुरी टीकाविशेषः"। भाष्यकार के वचन भी ऐसे ही हैं—वर्णिका भागुरी लोकायतस्य वर्तिका भागुरी लोकायतस्य॥ "वष्टिभागुरिरल्लोपः" कारिका भी भागुरि का वर्णन करती है। इससे ज्ञात होता है कि भागुरि व्याकरण का भी

---

[1] वर्णा एव तु न शब्द इति भगवानुपवर्षः।
वेदान्त सूत्र शांकर भाष्य १।३।२८

[2] "सारस्वती सुषमा" गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज परीक्षा बनारस के अङ्क में भी "सांख्य सम्प्रदायान्वेषणम्" शीर्षक मेरा लेख १९४९-५० के किसी अङ्क में प्रकाशित है। यह गुरुकुल काँगड़ी की पत्रिका १९५९ अथवा ६०, ६१ के किसी अङ्क में भी प्रकाशित है।

आचार्य था। जिन दर्शनों पर जिन भाष्यों का वर्णन महर्षि ने किया है और नहीं मिलते हैं—वे खोज के विषय हैं। उनको लेकर आक्षेप उठाना व्यर्थ की बात है। ऐसे अनेकों ग्रन्थों के नाम महाभारत आदि में पाये जाते हैं जो उपलब्ध नहीं[1] हैं।

(२) भावात्मक छः कथनों में परस्पर विरोध विषयक प्रश्न और उत्तर लिखना भी अयुक्त नहीं है। विरोध दो ही भाव और अभावात्मक कथनों में हो सकता है—यह यक्ता का कथन प्रमाण से शून्य है। निमित्त, साधारण और उपादान—ये तीन प्रकार के कारण महर्षि ने माने हैं। सृष्टि एक विषय है और उसके छः कारणों में ये तीन प्रकार के कारण हो सकते हैं—केवल उपादान और निमित्त ही नहीं। अतः दो कारणों की बात करना व्यर्थ है। दो कारणों का यहां पर संकर है—यह भी व्यर्थ की बात है। यहां पर तो सृष्टि में कौन कौन से कारण कार्य-कर होते हैं इनका वर्णन है। महर्षि ने काल और कर्म आदि को उपादान कारण तो कहा नहीं। फिर वैसी बात करना किसी प्रकार का तात्पर्य नहीं रखती। महर्षि ने काल को उपादान तो कहा नहीं है। कारण कहा है। कारण से साधारण कारण का ग्रहण है। परन्तु इन छः दर्शनों के प्रतिपाद्य विषय क्या हैं—इसका विवेचन करने पर महर्षि ने जो परिणाम निकाला है उसी पर कोई भी विवेचक पहुँचेगा। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी[2] काल स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, प्रकृति, आत्मा आदि सृष्टि के कारण कहे गये हैं। आगे चल कर इन कारणों का अधिष्ठाता

---

[1]देखें मेरी पुस्तक शिक्षणतरंगिणी।

[2]कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः। श्वेताश्वतर १।२—स्वभावमेके कवयो वदन्ति ॥ श्वेताश्वतर ६।१

परमेश्वर को स्वीकार किया गया है। पुनः इसी उपनिषद् में कहा गया है कि कई काल को कारण मानते हैं और कई स्वभाव को कारण मानते हैं। यहाँ पर न तो कारण का संकर ही पाया जा रहा है और न केवल दो ही भाव और अभावात्मक कथनों में विरोध हो सकता है—यह घट रहा है। क्या पुरुषार्थ=पुरुष कर्म और प्रयोजन की सृष्टि के बनने में अपेक्षा नहीं है। यदि है तो फिर खण्डन से क्या तात्पर्य ?। वैशेषिक लोग कालवादी कहे जाते हैं—यह प्रसिद्ध[१] है। षड् दर्शनों में परस्पर विरोध नहीं इसका वर्णन मैं दर्शन-तत्त्व विवेक में कर रहा हूँ। "परिछिन्नं न सर्वोपादानम् सां० १।७६।" इसके अनुसार न्याय के परमाणुवाद का विरोध नहीं होता है। क्योंकि परमाणुओं में देश की कल्पना नहीं की जाती है। जब उपादान कारण अनेक होते हैं तब परिच्छिन्नता का यह नियम नहीं लागू होता है। परिच्छिन्न एक वस्तु समस्त विश्व का कारण नहीं बन सकती है। परन्तु परमाणु तो अनेक हैं और निरवयव हैं। उन पर यह आक्षेप लगता ही नहीं। सांख्य ५।८७ "नाणुनित्यता०" सूत्र से परमाणुओं का खण्डन नहीं है बल्कि अणुओं=द्वयणुक आदि का खण्डन है। सांख्य परिभाषा में अणु क्या है—इसका भी तो परिज्ञान कर लेना चाहिए था।

"न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्" सांख्य ५।९९ सूत्र से वैशेषिक के समवाय पदार्थ का खण्डन नहीं है। बल्कि यह बतलाया गया है कि कोई ऐसा एकान्तिक नियम नहीं है कि समवाय ही कहा जावे, सारूप्य सम्बन्ध भी कहा जा सकता है। सांख्य और वेदान्त में जो विरोध प्रतीत होते हैं वे विरोधाभास मात्र हैं, विरोध

[१]वैशेषिक प्रतिकालवादी है प्रसिद्ध (सुन्दरविलास आत्मानुभव का अंग १७)

नहीं। शब्द दो प्रकार का है—लौकिक और वैदिक। न्याय लौकिक शब्दों का वर्णन करते हुये उन्हें अनित्य मानता है और मीमांसा वैदिक शब्दों पर विचार करता है अतः नित्य मानता है। यह कोई विरोध नहीं।

तत्वों का परिगणन सांख्य की प्रक्रिया है। सांख्य नाम भी इस विषय को अभिव्यक्त करता है। तत्वों का परिगणन अथवा क्रमनिर्धारण प्रकृति के ही तत्वों से सम्बन्ध रखता है। जब तक राग और विराग का संयोग न हो और कार्य को क्रमिक उत्पत्ति प्रकृति में न हो तब तक जगत् स्वयं तो प्रकृति में बनता नहीं। आठवें समुल्लास में लिखा है कि "सांख्य में तत्त्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता"। जब तक किसी पुस्तक का पूर्वापर न देख लिया जावे और उल्टी पुल्टी बात की जावे—क्या यह लेभगुओं वाला क्रियाकलाप नहीं है।

(३) न चतुष्ट्वमैतिह्य० इत्यादि सूत्र पर उठायी गयी आपत्ति भी ठीक नहीं है। क्योंकि न्याय सूत्रकार और उस पर भाष्य करने वाले भाष्यकारों ने इनके प्रमाण न होने का खण्डन नहीं किया है। हाँ इन का चार प्रमाणों में अन्तर्भाव अवश्य माना है। अतः न्यायशास्त्र का इन चारों प्रमाणों से विरोध नहीं है बल्कि प्रमाणों की चार से अधिक संख्या न मानकर इन चारों में ही ऐतिह्य आदि का अन्तर्भाव मान लिया है। योगदर्शन में (१।७) प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीन ही प्रमाण माने गये हैं (प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि)। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि न्याय के चौथे प्रमाण का खण्डन कर दिया गया है। इस लिए महर्षि ने इस सूत्र को पूर्वपक्ष नहीं समझा—यह बात नहीं है। पूर्वपक्ष समझते हुए भी इन प्रमाणों का विस्तार बतलाया क्योंकि इनका

शास्त्र में खण्डन नहीं—चार प्रमाणों में अन्तर्भाव है। यह संख्या और अन्तर्भाव वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है। महर्षि भी आठवें अभाव प्रमाण पर उपसंहार करते हुये लिखते हैं—"ये आठ प्रमाण हैं। इनमें से जो शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्था-पत्ति, संभव और अभाव की गणना करें तो चार प्रमाण रह जाते हैं।" यक्ता जी बतावें कि यहाँ पर महर्षि को सूत्रार्थ मालूम था या नहीं। किसी वस्तु को बिना समझे तुक मारना उन के अपने ही शब्दों में लेभगुओं की बात है—वा नहीं।

(४) "क्रियागुणवत्०" सूत्र का अर्थ भी महर्षि ने ठीक ही किया है। इस सूत्र में जो आत्मा को क्रियावान् द्रव्यों में लिखा गया है—उसमें कोई गलती नहीं। आत्मा=जीवात्मा एक देशी परिच्छिन्न है अतः उसमें क्रिया का होना समुचित ही है। "दिक्कालावाकाशश्च" (वैशेषिक ५।२।२१ सूत्र में आये "चकार" से आत्मा का ग्रहण किया जावे—यह कोई सर्वतंत्रसिद्धान्त तो नहीं है। शंकर मिश्र आदि ने चकार से आत्मा का ग्रहण किया है परन्तु वे ही इस विषय में सर्वथा प्रमाण तो नहीं कहे जा सकते हैं। प्रशस्तपाद का वचन जीवात्मा को निष्क्रिय और विभु बतलाता है इस में कोई हेतु यक्ता जी ने नहीं दिया। परमात्मा का भी आत्मा पद से ग्रहण हो सकता है। 'यक्ता' का यह तर्क करना कि "चकार' से आत्मा का ग्रहण न माना जावे तो फिर वैशेषिक में ऐसा कोई सूत्र नहीं मिलेगा जो आत्मा को क्रियारहित वा क्रियावान् बतलाता हो। मैं पूछता हूँ कि ऐसा सूत्र न मिले तो हानि क्या है ? जब द्रव्य लक्षण में ही यह प्रश्न समाहित हो जाता है तो दूसरे सूत्र की अपेक्षा पर आधार क्यों लेना चाहिए ? वैशेषिक ५।१।१ सूत्र में हो

लिखा गया है कि आत्मा के संयोग[1] और प्रयत्न से हाथ में उठाना आदि कर्म होता है। फिर आत्मा को क्रियावान् बतलाने वाला कोई सूत्र नहीं है—यह कितनी बड़ी अनभिज्ञता है। एक प्रश्न यह भी उठता है कि वैशेषिक में परमात्मा का ग्रहण है वा नहीं ?। यदि ग्रहण है तो किस सूत्र से ? वह सक्रिय है वा निष्क्रिय। यदि उसका ग्रहण नहीं है तो क्या दर्शन की अपूर्णता नहीं है। अतः यह भी क्या संभव नहीं कि विभुत्व आदि धर्म से जहाँ आत्मा का ग्रहण किया गया है वहाँ पर इस परमात्मा का ही ग्रहण है। इसके अतिरिक्त वेद में जीवात्मा को क्रियारहित व्यापक नहीं माना गया है। यदि कोई उसे विभु और क्रियारहित मानता है तो वह स्वीकार्य एवं मंतव्य नहीं हो सकता है।

५—यहाँ पर भी महर्षि का अर्थ ठीक ही है। महर्षि ने पठन-पाठन की सुगमता और अधिक बोध की दृष्टि से प्रत्येक सूत्र पर पूर्वापर विचार प्रस्तुत किये हैं—केवल सूत्रों के ही अर्थ नहीं किये हैं। वैशेषिक २।२।१४ की व्याख्या तो सर्वथा सूत्रानुसारी व्याख्या है। वे लिखते हैं "जिस ओर प्रथम आदित्य का संयोग हुआ, है, होगा, उसको पूर्व दिशा कहते हैं। यहाँ पर 'हुआ' से भूत, 'है' से वर्तमान और 'होगा' से भविष्यत् का ग्रहण है। रही बात दक्षिण आदि के कहने की वह भी संगत ही है। क्योंकि जब मनुष्य पूर्वाभिमुख खड़ा होगा तो यही दिशायें बनेंगी। चूँकि २।२।१६ सूत्र की आगे व्याख्या करनी थी और २।२।१५ सूत्र जिसमें दक्षिणा और प्रतीची उदीची का वर्णन है, छोड़ना था अतः २।२।१६ के अर्थ को समझाने के लिए अन्य दिशाओं की भूमिका आवश्यक थी क्योंकि बिना दिशाओं के समझे दिगन्तराल नहीं समझे जा सकते हैं।

[1]आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म। वैशेषिक ५।१।१

६—यहाँ पर द्रव्यगुणकर्मणां० १।२।१८ सूत्र के अर्थ में भी कोई दोष नहीं है। यहाँ पर यह भाव निहित है कि "द्रव्य कार्य द्रव्य, गुण तथा कर्म का समान कारण है। द्रव्य में कारणत्व अपने कार्य द्रव्य के ही प्रति पाया जा सकता है अतः कार्य द्रव्य शब्द लगाना उपयुक्त ही है। क्या द्रव्य कारण द्रव्य का भी कारण है? कारण तो कार्य का ही होता है—कारण का कारण नहीं। सामान्य को द्रव्य और गुण का कारण नहीं लिखा गया है। यह दयानन्द रहस्य के लेखक की समझ का दोष है कि वह ऐसा उल्टा अर्थ लगाता है। यहाँ पर "सामान्य" समान अथवा समान रूप से" अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ पर यह वैशेषिक परिभाषा का सामान्य नहीं है। हिन्दी भाषा में प्रयुक्त होने वाले "समान" अर्थ का वाचक सामान्य है। वक्ता ने स्वयं दयानन्द रहस्य के पृष्ठ १९६ पर लिखा है "इस सामान्य विचार से यह तो विदित है"। यहाँ पर "सामान्य" को विचार कहना क्या लालबुझक्कड़ी नहीं है। विचार को भी वैशेषिक में "सामान्य" नहीं माना गया है। यदि यहाँ पर सामान्य का अर्थ साधारण है तो "सामान्य द्रव्य" में भी वही साधारण अर्थ क्यों न लिया जावे।

७—द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् १।१।२३ का अर्थ भी युक्तियुक्त ही है। यहाँ पर भाव यह स्पष्ट भासित हो रहा है कि जिन द्रव्यों का कार्य द्रव्य होता है, उनका द्रव्य कार्य होना समान धर्म है। अर्थात् जिन के कार्य द्रव्य होते ही नहीं (जैसे आत्मा, परमात्मा) उन का द्रव्य कार्य में परिणत होना समान धर्म नहीं। सूत्र के आपाततः अर्थ से सभी द्रव्यों को कार्यपना प्राप्त था; उसका निषेध करने के लिए और सूत्रकार के भाव को स्पष्ट करने के लिए यह अर्थ किया। इस अर्थ को न समझ कर

अपनी उल्टी पुल्टी युक्ति भिड़ाने पर क्या विदेशी दार्शनिक आपको बधाई का तार भेजेंगे।

८—यहाँ पर सूत्र का भाव महर्षि ने लिखा है और 'इसमें यह है'—इस वाक्य का स्पष्टीकरण कर दिया है। उनका तात्पर्य यह है कि "कारण अर्थात् अवयवों में अवयवी, कार्यों में क्रिया क्रियावान् का नित्य सम्बन्ध तथा गुणगुणी, जातिव्यक्ति, कार्य कारण और अवयव अवयवी का नित्य सम्बन्ध है; वह समवाय कहाता है। संयोग सम्बन्ध का यहाँ पर वर्णन समवाय के अधिक स्पष्टीकरण के लिए है। क्योंकि "इह इदम्" का "इसमें यह है" और "इस पर यह है"—दोनों ही अथ हैं। ऐसी स्थिति में कोई संयोग सम्बन्ध को ही समवाय न समझ ले अतः संयोग सम्बन्ध का भी वर्णन कर दिया।

९—यहाँ भी अर्थ स्पष्ट ही है। जो द्रव्य और गुण का समान-जातीयक (अर्थात् द्रव्य का अपने समान द्रव्य का और गुण का अपने समान गुण का) कार्य का आरम्भ होता है उसको (द्रव्य और गुण में) साधर्म्य=समान धर्म कहते हैं। शेष व्याख्या इसके स्पष्टीकरण के लिए है।

१०—यहाँ भी महर्षि का अर्थ सर्वथा ठीक है। यहाँ पर आर्यमुनि और महर्षि के अर्थ एक ही बात को कहते हैं। अन्तर इतना है कि महर्षिकृत अर्थ अधिक स्पष्ट है। 'यक्ता' का कथन यह स्पष्ट कर देता है कि उन को सामान्य और विशेष का किञ्चित् भी परिज्ञान नहीं है। सामान्य परसामान्य और अपर सामान्य भेदों से दो प्रकार का होता है। परसामान्य अधिक देशवृत्ति होता है और अपरसामान्य अल्पदेशवृत्ति होता है। सत्ता जो परसामान्य है वह द्रव्य, गुण, कर्म सभी में अनुगत है

अतः वह महासामान्य है। विशेष जो अपरसामान्य है उससे इस की भिन्नता और अधिक व्यापकता बताने के लिए इसे महासामान्य कहा गया। महर्षि का अर्थ कितना स्पष्ट है "जो सब के साथ अनुवर्त्तमान होने से सत्तारूप भाव है वह महासामान्य कहाता है।"

११—यहाँ पर "विशेष निमित्त के अभाव से" पद व्यपदेश के अर्थ में नहीं है। यह तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए लगाया गया है क्योंकि 'व्यपदेश न होने का भी तो कोई निमित्त होना चाहिए। 'न था' में व्यपदेश का भाव आ जाता है।

१२—सदकारणवन्नित्यम् वेशेषिक ४।१।१ का अर्थ भी संगत है। यहाँ पर 'नित्य' के लक्षण को स्पष्ट करने के लिए अनित्य का भी कथन कर दिया गया है। "गुण" पद का ग्रहण द्रव्य की व्यावृत्ति के लिये यहाँ पर नहीं है। जो हो और जिसका कारण कोई न हो वह द्रव्य नित्य है यह तो सूत्र से स्पष्ट है। परन्तु ऐसे नित्य पदार्थ में विद्यमान गुण भी नित्य हों इस विषय में विकल्प भी है। अग्नि आदि के नित्य परमाणुओं के अपने गुण भी नित्य हैं। परन्तु पृथिवी के नित्य परमाणुओं में भी विद्यमान गन्ध अनित्य माना जाता है। इसी आधार पर पाकज गुणों का वर्णन है। इस स्पष्टीकरण के लिए गुण पद रखा। अर्थात् कारण वाला कार्य गुण कहीं पर हो वह अनित्य कहलावेगा।

१३—यहाँ पर भी अर्थ स्पष्ट है। पहले सूत्र के भाष्य के अन्तरवर्त्ती शब्दों को मिलाकर अर्थ किया जावेगा। "परिमाण दो प्रकार का है—(अणु) सूक्ष्म (महत्) बड़ा जैसे त्रसरेणु लिक्षा से छोटा और द्वयणुक से बड़ा है। पहाड़ पृथिवी से छोटे और वृक्षों से बड़े हैं। यहाँ पर "लिक्षा से", "द्वयणुक" से;" "पृथिवी से" और "वृक्षों से" वाक्यों में जो "से" पद पड़ा है वह "अपेक्षा" अर्थ का देने वाला है और यह सूत्रस्थ "विशेषभावाद् विशेषाभावाद्" का अर्थ है।

१४—यह कहना ग़लत है कि यहां पर कार्य और कारण को लिङ्गों में नहीं गिना गया है। यहाँ पर तो स्पष्ट ही लिखा है—"इसका यह कार्य वा कारण है इत्यादि"। यहां "होने वाली" का अर्थ है जो हुई नहीं है अनिश्चित भविष्य का विषय है। अतः हुई वृष्टि (वर्तमान वृष्टि) न हुई (अवर्तमान अर्थात् भूत एवं भविष्यत् वृष्टि का) का विरोधो लिङ्ग है। क्यों वर्तमान वृष्टि जहाँ न हुई का विरोधी लिंग है वहाँ निकट भविष्य में होने वाली वृष्टि की संभावना का भी विरोधो लिङ्ग है। क्योंकि हुई वृष्टि को देखकर यह भी तो अनुमान किया जाता है कि भविष्य में वृष्टि होने की संभावना नहीं है। वस्तुतः बात तो यह है कि "होने वाली" शब्द में ही आपके न होने वाली का भाव भी छिपा है।

१५—धूम और अग्नि के नियत सम्बन्ध का नाम व्याप्ति है। परन्तु ऐसा भी है कि अग्नि है परन्तु धूम नहीं होता है। अतः "यत्र धूमस्तत्राग्निः" का नियम तो है परन्तु "यत्राग्निस्तत्र धूमः" का नियम नहीं है। धूम्रदर्शन से अग्नि का होना निश्चित है और धूम और अग्नि का यह सम्बन्ध व्याप्ति है। परन्तु यह नियम तभी घटित होता है जब धूम का उद्भव हो। धूम्र का उद्भव अग्नि से होता है। अतः कहीं पर धूम्र है और अग्नि नहीं है तव भी धूम्र और अग्नि के सम्बन्ध में व्यभिचार नहीं पाया जावेगा। यही अनुमान होगा कि अग्नि कहीं दूर देश में है जहाँ से विच्छिन्न होकर यह धूम्र आया है। इसका कारण क्या है—कि यदि धूम अग्नि का विरोधी हो तो फ़िर अग्नि का कार्य भी न हो सके। इस बात को जताने के लिए महर्षि ने लिखा है "तथा व्याप्य" जो धूम उसकी (अग्नि की) निजशक्ति से उत्पन्न होता है, अर्थात् जब देशान्तर में दूर धूम जाता है तब बिना अग्नियोग के भी धूम स्वयं रहता है। उसी (निजशक्ति से उत्पन्न होने) का नाम

व्याप्ति है अर्थात् अग्नि के छेदन, भेदन, सामर्थ्य से जलादि पदार्थ धूम रूप प्रकट होता है।"

१६—प्रकृति में व्यापकता और महत्तत्वादि में व्याप्यता लिखना बुद्धि का विभ्रम नहीं है वल्कि इसको न समझ सकना बुद्धि का विभ्रम है। सांख्य में प्रकृति को विभु माना गया[1] है। प्रकृति अपने समस्त कार्यों में विद्यमान है अतः कार्यों में व्यापक अर्थात् विभु है। स्वर्ण अपने कार्य-मात्र में स्वर्णत्वेन विद्यमान रहता है। यह स्थिति प्रत्येक परिणामी उपादान कारण की है। अतः महत्तत्व आदि प्रकृति के कार्य हैं और प्रकृति इनमें व्यापक तथा ये व्याप्य हैं। कार्य के साथ कारण का यह सम्बन्ध व्याप्ति का सूचक है।

१७—नवें समुल्लास में "अभावं वादरिराह ह्येवम्" वेदान्त ४।८।१० सूत्र का महर्षि ने अर्थ नहीं किया है। वहाँ पर तो ऊपर चल रहे प्रसंग से यह प्रमाण मात्र बताना अभिप्रेत है कि मुक्ति में जीव का लय नहीं होता है। अर्थ करने पर भी यही भाव सिद्ध होगा कि वादरि आचार्य मुक्ति में शरीर और इन्द्रियों का जीव के साथ अभाव मानते हैं। अर्थात् जीव और मन का लय नहीं मानते हैं। यहाँ पर महर्षि ने अभाव को भाव नहीं बनाया है। केवल प्रमाण मात्र के लिए सूत्र उद्धृत किया है। क्या मुक्ति में शरीर और इन्द्रिय का अभाव कहने से यह नहीं प्रकट है कि 'मुक्ति में जीव और मनःशक्ति का अभाव नहीं है।'

१८—यहाँ पर भी जैसा पूर्व कहा जा चुका है,महर्षि ने केवल प्रमाण में सूत्र को उद्धृत किया है—सूत्र का अर्थ नहीं किया है। यह दयानन्दरहस्य के लेखक का अज्ञान है कि वह विषय के

---

[1]सर्वत्र कार्यदर्शनाद् विभुत्वम्। सां० ६।३६

सन्दर्भ को विना समझे व्यर्थ का आक्षेपवचन प्रयोग करता है। "द्वादशाह" का अर्थ भी जो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भाषा में दिया गया है वही ठीक है। दयानन्दरहस्य के लेखक को स्वयं कर्मकाण्ड के विषय का कुछ ज्ञान नहीं है—ऐसा उसके आक्षेपवचन से प्रतीत होता है। "द्वादशाह" का अर्थ श्रौत सूत्रों आदि में प्रचलित सत्र और अहीन दोनों संज्ञाओं में आने वाला यज्ञ[1] है। परन्तु यहाँ पर इस सत्र अर्थ को ग्रहण करने से "भावाभाव" का कोई सम्बन्ध नहीं बनता है। बादरि अभाव और जैमिनि भाव मानते हैं—यह दोनों सूत्रों से स्पष्ट है। परन्तु यहाँ पर यह यज्ञ दृष्टान्त कैसे बन सकता है। महर्षि ने जिस प्राजापत्य व्रत की बात कही है, उसमें क्षुधा का भावाभाव अथवा भोजन का भावाभाव दोनों ही पाया जाता है। द्वादशाह यज्ञ में तो सत्र और अहीन केवल पारिभाषिक नाम—सांकर्य के द्योतक हैं—भावाभाव के नहीं। अतः महर्षि का किया अर्थ युक्ति-संगत है।

क्या यक्ता जी ऐसी कोई सिद्धान्त-भूत प्रामाणिक युक्ति उपस्थित कर सकते हैं—अथवा नियम उपस्थित कर सकते हैं कि जिसके आधार पर यहाँ द्वादशाह का अर्थ द्वादशाह यज्ञ ही लिया जावे। क्या प्राजापत्य व्रत का वर्णन कर्मकाण्ड के न जानने का द्योतक है ?। कोई वज्रमूर्ख व्यक्ति ही यह कह सकेगा कि यह कर्मकाण्ड के बाहर की वस्तु है।

१९—यहाँ पर प्राण और अपान शब्दों की व्याख्या सूत्र को दृष्टि से संगत ही है। यहाँ पर प्राण का अर्थ भीतर से वायु का निकालना और अपान का अर्थ बाहर से वायु को भीतर लेना

[1] द्वादशाहः सत्रमहीनश्च। कात्यायन श्रौतसूत्र १२।१।४

है। श्वास का निकालना और श्वास का लेना अर्थ ही यहाँ पर सूत्र में संगत मालूम पड़ता है। यहाँ पर अपान का 'यक्ता' जी का माना हुआ अर्थ संगत नहीं होता है। आचार्य प्रशस्त पाद ने 'भस्त्रा' का जो दृष्टान्त दिया है वह भी इसी अर्थ का सूचक है। गीता में प्राण और अपान की गति को रोक कर[1] प्राणायाम की सिद्धि बतलायी गई है। फिर वहाँ अपान का अर्थ क्या वही है जो 'यक्ता' जी कहना चाहते हैं। क्या प्राणायाम के समय श्वास-प्रश्वास की क्रिया के अतिरिक्त ये दूसरी प्राण=वायु को नाक से भीतर लेना और अपान=वायु को नीचे से बाहर निकालने की भी क्रियायें चालू की जाती हैं?

२०—महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में "उपासना-समये०" आदि वाक्य द्वारा सूत्रों का अर्थ नहीं, भावमात्र दिखलाया है। साथ ही "वृत्तिसारूप्यमितरत्र" सूत्र का भी भाव लेकर इस वाक्य की रचना की है। चूँकि यहाँ पर उपासना का प्रकरण है अतः संक्षिप्त भावमात्र दिया है। उपासना की सिद्धि तभी होती है जब उपासना और व्यवहार दोनों में एकता हो। उपासना के समय उपासना और व्यवहार के समय उसके विरुद्ध आचरण करने से उपासना नहीं सिद्ध हो सकती है। इसलिए "व्यवहार समये वा" पदों का प्रयोग महर्षि ने किया है। महर्षि व्यास के आशय को लेकर ही यह लिखा गया है। व्यास भी अपने भाष्य में कहते हैं कि शय्या पर हो अथवा मार्ग में हो संसार की बीजभूत अविद्या के क्षय की ईक्षा करते हुये योगयुक्त होना चाहिए[2]।

---

[1] प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः। गीता ४।२९

[2] शय्यासनस्थोऽपि पार्थ व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्क जालः। संसारवीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी ॥ व्यासभाष्य २।३२

व्यासभाष्य का नाम लेकर धोखा भी नहीं दिया गया है क्योंकि प्रमाणों में कई स्थल पर व्यासभाष्य भी दिया गया है । यह १।२४-२६ सूत्रों पर देखा जा सकता है उसी उपासना प्रकरण में । उपासनाप्रकरण विषय की सिद्धि में सूत्रों के जितने भाव की आवश्यकता थी महर्षि ने उतना दिया । इसमें किसी के धोखा देने का प्रश्न ही क्या उठता है ?

"परमेश्वर की समीपता" सूत्र के अर्थ के रूप में नहीं दिया गया है । चित्तवृत्ति-निरोध और द्रष्टा के अपने स्वरूप के लाभ के पश्चात् परमात्मा की समीपता होती है । उपासना प्रसंग में उसका ही वर्णन किया गया ।

"समस्त" पद तो सूत्रकार ने भी नहीं ग्रहण किया और भाष्यकार ने तो उस पर शंका ही उठायी है । यदि समस्त का ग्रहण किया जाता और उससे समस्त चित्त वृत्तियों के निरोध को योग कहा जाता तो संप्रज्ञात योग का लक्षण न हो पाता । अतः "समस्त" अथवा सर्व का ग्रहण नहीं किया गया ।

"अधर्मव्यवहाराच्च" पद से यह अनुमान निकाल लेना कि सम्प्रज्ञात लक्षण से आगे यह लक्षण नहीं जाता और असंप्रज्ञात योग में यह अव्याप्त है—यह कल्पना भी ठीक नहीं । योगदर्शन ४।२९ में "धर्ममेघ" समाधि का वर्णन[1] है । यहाँ पर 'धर्म' शब्द का क्या अर्थ है—यह जिसको ज्ञात होगा वह महर्षि के वाक्य पर ही न कोई शंका उठा सकता है और न असंप्रज्ञात योग में लक्षण की अतिव्याप्ति का ही सन्देह उठा सकता है । इस ४।२९ सूत्र में आये धर्म शब्द का अर्थ—कैवल्य फल को

[1]प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ।
यो० ४।२९

देने वाला तथा क्लेश और कर्मादियों का निःशेषोन्मूलक ज्ञान अथवा कर्म है। धर्म का अर्थ इतना व्यापक है। अतः महर्षि द्वारा लिखित "अधर्मव्यवहारात्" शब्द का अर्थ है—कैवल्यफलक, एवं क्लेश, कर्म आदिकों के निःशेषोन्मूलक ज्ञान एवं कर्म के विपरीत व्यवहार से-(चित्त वृत्तियों को निरुद्ध रखना चाहिए)। क्या अब इसके अन्दर असंप्रज्ञात नहीं आ जाता ? क्या अब भी आपका अधर्म का संकुचित ही अर्थ करना उचित माना जावेगा ? ।

सत्यार्थप्रकाश में भी जो लिखा है वह ठीक ही है। वहाँ स्पष्ट ही लिखा है—"मनुष्य रजोगुण तमोगुण युक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्ध सत्वगुणयुक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्ध-सत्वगुणयुक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर············इत्यादि। शुद्धसत्वगुणयुक्त कर्मों के रोकने के लिए पहले शुद्ध सत्वगुणयुक्त होना आवश्यक है। यह यहाँ पर स्पष्ट कर दिया गया है।

एकाग्र का एक और अग्रभाग अर्थ करने में न व्याकरण की कोई आपत्ति है और न योग के सिद्धान्त की ही। एकाग्र का ऐसा अर्थ करने से मूर्ति में ध्यान लगाने का पौराणिकों का सिद्धान्त भी खण्डित हो जाता है और साथ ही धारणा से लेकर समाधि पर्यन्त अङ्गों के लक्षणों का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। क्योंकि एकाग्रता परमेश्वर में भी होती है और उससे पूर्व योग में प्रतिपादित अन्य विषयों में भी। ऋषि साक्षात्कृद्धर्मा होते हैं; पूर्वापर देखकर विषय को प्रस्तुत करते हैं। दर्शनतत्त्वदर्शी साक्षात्कृद्धर्मा दयानन्द ने इसी प्रकार का अर्थ किया है। अन्यथा 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' १।३२ और 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' ३।२ सूत्रों का प्रयोजन ही नहीं स्पष्ट हो सकता था।

(२१) यहाँ पर भी किसी प्रकार का दोष नहीं है। सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि 'जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में स्थिति होती है। ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका में लिखा है कि "जब समस्त व्यवहारों से मन रुक जाता है तब इस उपासक का मन द्रष्टा सर्वज्ञ परमेश्वर के स्वरूप में स्थिति प्राप्त करता है।" यहाँ दोनों अर्थों में कोई विरोध नहीं। पहले कहा जा चुका है कि यहाँ पर भावमात्र अभिप्रेत है। द्रष्टा जब अपना स्वरूप लाभ कर लेता है तब सर्व-द्रष्टा परमेश्वर में भी स्थिति प्राप्त करता है। यहाँ पर उपासना का वह मुख्य फल जो द्रष्टा के स्वरूपलाभ के समनन्तर प्राप्त होता है—दिखला दिया गया है।

(२२) यहाँ पर भी सूत्र का भाव ही कहा गया है। सूत्रार्थ से सम्बद्ध भाग केवल "नैवेदृश्यनुपासकानामयोगिनां कदाचिद्वृत्तिर्जायते" ही है। शेष ऊपर का वाक्य भाव के स्पष्टीकरणार्थ है। अर्थात् अनुपासक अयोगी की कभी ऐसी वृत्ति नहीं होती है (कि वह द्रष्टा के स्वरूप में स्थित हो)।

(२३) यहाँ पर कोई भी दोष नहीं है। दोष केवल दोष दिखलाने वाले की बुद्धि का है। वृत्तिर्वर्त्तनम् व्यापारो वा अर्थात् वृत्ति नाम वर्तन वा व्यापार का है; चित्त के व्यापार को चित्त वृत्ति कहा जाता है। "न भूलना" भी चित्त का व्यापार है। अतः वह वृत्ति ही है। असंप्रमोष का अर्थ न चुराया जाना है। न चुराया जाना और न भूलना अथवा न भुलाया जाना—एक ही भाव को अनुभूत विषय को उनका कर्म बना देने पर प्रकट करते हैं। अनुभूत विषय का जिसमें असंप्रमोष = न चुराया जाना एवं न भूलना वा भुलाया जाना हो उसका नाम स्मृति वृत्ति है। न भूलना

वृत्ति नहीं—यह तर्क भी स्वयं को काटने वाला है। क्योंकि न भूलना अगर आपके कथनानुसार कोई वृत्ति नहीं बन सकती तो आपका संप्रमोष=विषय के प्रकाश करने का अभाव किस प्रकार वृत्ति बन सकता है। भाव यह है कि अनुभूत विषय का न भूलना यदि वृत्ति नहीं है तो फिर अनुभूत विषय से अधिक प्रकाश करने का अभाव वृत्ति किस प्रकार हो सकता है। साथ ही यह "अधिक प्रकाश" शब्द कहाँ से आ गया। अनुभूत विषय से अधिक प्रकाश न करना और अनुभूत विषय से न्यून का प्रकाश न करना क्या 'अनुभूत का न भूलना' अर्थ नहीं देता है।

(२४) "सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें" में वैराग्य का लक्षण आ जाता है। क्योंकि १।१५ सूत्र में वशीकारसंज्ञक वैराग्य का लक्षण है—केवल वैराग्य का नहीं। किसी वस्तु में तृष्णा का होना भी दोष ही है—अतः दोषों से दूर रहने में वैराग्य का वैतृष्ण्यभाव भी आ जाता है।

(२५) यहाँ पर सूत्र का अर्थ तो व्यास भाष्य में दे दिया गया है। प्रत्यक् चेतन के अधिगम और अन्तरायों का अभाव हो जाने पर अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति होती है—इस विषय का वर्णन उपासना के विषय के स्पष्टीकरणार्थ है।

(२६) यहाँ पर भाषा में केवल संक्षिप्त भाव मात्र लिखा गया है। सूत्र पर दिये गये व्यासभाष्य का विस्तृत अर्थ नहीं। व्यासभाष्य में विस्तार से धातु रस और करण की विषमता को व्याधि कहा गया था। परन्तु यहाँ पर संक्षेप में धातु कहने से

सबका संग्रह है । रस स्वयं धातु है अतः उसका ग्रहण हो ही गया । करण इन्द्रिय आदिक व्याधि के स्थान हैं अतः उनका अध्याहार 'ज्वरादि' कहने से हो गया । स्त्यान का अर्थ अकर्मण्यता है और उसकी व्याख्या सत्यकर्मों में अप्रीति है । जब चित्त में लोभ होने पर भी कर्मण्यता न आवे तब अप्रीति होना समझा जाता है—यही स्त्यान है । पदार्थ का यथार्थ-ज्ञानाभाव संशय से भी होता है और भ्रांति से भी । परन्तु भ्रांति का लक्षण 'उल्टे ज्ञान का होना' आगे चल कर महर्षि नें कर दिया है । अतः यहाँ पर दो कोटि के ज्ञान से होने वाला यथार्थ-ज्ञानाभाव ही संशय है । लिखा भी वैसा ही है—अर्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे उसका यथावत् ज्ञान न होना । यहाँ निश्चय पद ही सारा भाव बतला रहा है । क्योंकि भ्रान्ति निश्चयात्मिका होती है और संशय—यह है वा वह है—इस प्रकार का अनिश्चयात्मक होता है ।

'अभावना' का क्या अर्थ है—इसे ही स्पष्ट करने के लिए कहा है कि—"समाधि के साधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना" । "गुरुत्व" का अर्थ भारी पन है । शरीर और चित्त का भारीपन उनमें आराम की इच्छा के बने रहने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? । इसके कारण होने वाली 'अप्रवृत्ति' ही पुरुषार्थ का छोड़ बैठना है । यहाँ पर पुरुषार्थ का अर्थ पुरुष का प्रयत्न है । अनीश्वर में ईश्वर और ईश्वर में अनीश्वर भाव तथा जड़ में चेतन और चेतन में जड़ भाव विपर्यय है । "विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम्"—सूत्र से स्वयं सूत्रकार ने भी यही कहा है । काशी शास्त्रार्थ में महर्षि ने किसी भी समय ऐसा नहीं कहा है कि आदित्य में ईश्वर भाव

करके आदित्य की पूजा करनी चाहिए। समाधि की भूमि का लाभ न होना ही समाधि का लाभ न होना है। क्या समाधि की अवस्था और समाधि में कोई अन्तर है ? यहाँ पर 'भूमि' पद का अर्थ समाधिभूमि तो व्यास भी कर रहे हैं। क्या उन्हें भी आप के जितना योग का ज्ञान नहीं है ? समाधि की भूमि कहने पर भी तो समाधि उसमें ओतप्रोत है। व्यास ने भो तो 'भूमि' का ही अर्थ समाधिभूमि किया है। यह कैसे ज्ञात किया कि व्यास ने समाधि की भूमि ही लिखा है। व्यास ने भी तो यही अर्थ किया है। वे कहते हैं "समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति" अर्थात् समाधि के प्राप्त होने पर भी उसका स्थिर न होना। व्यास जी ने तो गुरु से पढ़ा था—वा नहीं। असम्भव क्या है और संभव क्या है—यह भो समझने की शक्ति होनी चाहिए। पौराणिक भाइयों के माने पितृपक्ष में एक पत्र लिखकर किसी पौराणिक ब्राह्मण के उदर रूपी लेटरबाक्स में डालकर व्यास जी महाराज से भो पूछना चाहिए था कि उनका यह कथन संभव है—वा असम्भव। यह भी प्रमाणित करा लेना चाहिए था कि गुरु से पढ़कर वे ऐसा कह रहे हैं अथवा बिना गुरु से पढ़े हुए।

(२७) यहाँ पर महर्षि ने व्यास भाष्य का भाषा में अर्थ नहीं किया है—केवल संक्षिप्त भाव मात्र लिख दिया है। उसको न समझ कर व्यर्थ में आक्षेप का विस्तार २६ वें अङ्क पर किये गये आक्षेपों के समान व्यर्थ के प्रलाप मात्र हैं।

(२८) इस स्थल पर दयानन्दरहस्य के लेखक ने बहुत सा असम्बद्ध प्रलाप किया है। उसका यह प्रलाप सिद्ध करता है कि उसको योग शास्त्र का क, ख, ग भी नहीं मालूम है। महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना प्रकरण में निम्न वाक्य

"प्रच्छर्दन०" योग १।३४ सूत्र पर भाषा में लिखे हैं—'जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुख-पूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे, पुनः धीरे धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार वारम्वार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी परमेश्वर है; उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिए।" इस पर श्री यक्ता ने लिखा है कि आत्मा स्थिर हो नहीं सकता क्योंकि योग दर्शन में आत्मा एकदेशी और चंचल नहीं, अपितु ईश्वर के समान सर्व-देशी और स्थिर है। आत्मा के बीच में परमेश्वर के व्यापक होने की बात दार्शनिक बुद्धि के अभाव की निश्चायक है। व्याप्य पदार्थ नियम से नाशवान् होता है। कोई भी व्याप्य पदार्थ ऐसा नहीं बताया जा सकता जो नाशवान् न हो। इसलिए आत्मा को व्याप्य मानने से उसे नाशवान् मानना पड़ेगा। इत्यादि।

क्या योगदर्शन में आत्मा ईश्वर के समान सर्वदेशी है ?

यहाँ पर समाधान किया जाता है। योगदर्शन के किसी भी सूत्र से अथवा व्यासभाष्य से आत्मा का ईश्वर की भाँति सर्व-देशी होना सिद्ध नहीं होता है। इस पर आह्वान है कि 'यक्ता' जी शास्त्रार्थ स्वीकार करें और इस पक्ष को योगदर्शन से सिद्ध करें। अन्यथा व्यर्थ की गप्पों से कोई कार्य नहीं चलेगा। यदि आत्मा ईश्वर की भाँति सर्वदेशी होता तो पाँचों चित्तवृत्तियों के व्यापारों का एक समय में सांकर्य होता। "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" और "वृत्तिसारूप्यमितरत्र" आदि अनेक सूत्रों का

कोई भी अर्थ नहीं बन सकता था। जागरण, निद्रा, सुषुप्ति और समाधि आदि अवस्थाओं का सर्वथा अभाव मानना पड़ता। अतः आत्मा योगदर्शन में ईश्वर को भाँति सर्वदेशी नहीं है। पुरुष बुद्धि का प्रति-संवेदी है अतः जैसी बुद्धि होती है वैसा ही वह दिखलाई पड़ता है। बुद्धि, मन, चित्त आदि का प्रतिसंवेदी होने से वह उनके अनुरूप होकर चंचल कहा जाता है। अतः प्राणायाम आदि से मन के स्थिर हो जाने पर उसका स्थिर होना सर्वथा युक्ति-युक्त है। ईश्वर और जीव की पृथक् सत्ता योगदर्शन और उसके व्यास भाष्य में स्वीकार की गई है[1]। मायावाद में ईश्वर से जोव की पृथक सत्ता नहीं—साथ ही ईश्वर भी विभु और जीव भी विभु—ऐसा किसी दर्शन का सिद्धान्त नहीं। यदि होवे तो वेद के विरुद्ध होने से अमान्य है। व्यास योग १।२४ के भाष्य पर स्पष्ट ही परमेश्वर और जीव का भेद बतलाते हैं। उनका कथन है कि प्रधान, पुरुष से पृथक् सत्ता ईश्वर की १।२४ सूत्र में सूत्र-कार ने प्रतिपादित की है। व्यास देव कहते हैं कि ईश्वर मुक्त और बद्ध जीवों से पृथक् सत्ता रखता है। मुक्तों को पहले बन्धन था। उन्होंने तीनों बन्धनों का छेदन करके मुक्तता प्राप्त की है। परमेश्वर में इस बन्धन और इसके कारण अविद्या आदि का

---

[1]अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ?—क्लेशकर्म-कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।······कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च वहवः केवलिनः ? ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति। योग व्यास भा० १।२४॥

सम्बन्ध न था, न है, और न होगा। यहाँ कितने स्पष्ट शब्दों जीव और ईश्वर का भेद प्रतिपादित किया गया है।

दयानन्द रहस्य के लेखक का यह कहना कि 'परमेश्वर का आत्मा के अन्दर व्यापक कहना' दार्शनिक बुद्धि के अभाव का निश्चायक है'—वस्तुत: उसकी ही अपनी दार्शनिक रहस्य को न समझने की अज्ञता का परिचायक और निश्चायक है। परमात्मा आत्मा के अन्दर व्यापक है—यह सिद्धान्त वेद, दर्शन और उपनिषद् सभी में स्वीकार किया गया है। यजुर्वेद ३२।८ में[1] परमेश्वर को जीव आदि प्रजाओं में ओत-प्रोत (व्यापक) कहा गया है। इसी प्रकार ३२।११[2] मंत्र में भी उसका आत्मा (जीव) में व्यापक होना बतलाया गया है। कठोपनिषद्[3] में परमात्मा को आत्मा में स्थित (व्यापक) कहा गया है। यक्ता जी का यह कहना कि बृहदारण्यक उपनिषद् और उसके अन्तर्यामी ब्राह्मण में जो 'आत्मा के अन्दर परमात्मा का व्यापक होना लिखा है वह बाधक नहीं और वहाँ पर आत्मा शब्द का अर्थ शरीर होगा—सुतराम् लोगों की आँखों में धूल झोंकना और तत्त्व को न समझ कर अनर्गल प्रलाप करना है। वहाँ पर तो इस प्रकरण में शतपथ ब्राह्मण में (१४।३।८।७ से ३१ पर्यन्त पृथिवी, अप्, अग्नि,

---

[1]वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं ँ स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु॥ यजुः ३२।८

[2]परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश॥ यजुः ३२।११

[3]नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ कठ २।५।१३॥

आकाश, वायु, आदित्य, चन्द्रतारक, दिशा, विद्युत्, स्तनयित्नु, सर्वलोक, सर्ववेद, सर्वयज्ञ, सर्वभूत, प्राण, वाणी, चक्षु:, श्रोत्र, मन, त्वचा, तेज, तमस्, रेतस्—आदि में उसकी व्यापकता एक एक करके स्वयं बतला दी गई है। सर्वभूत, प्राण, वाणी, चक्षु:, श्रोत्र, मन, त्वचा, तेज, रेतस्—आदि के ग्रहण से तो शरीर का ग्रहण स्वयं हो गया है। फिर आत्मा का अर्थ शरीर होगा यह अच्छी अललटप्प है। भूत का एक अर्थ पांच भूत पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश और वायु हैं। इनका पहले ही वर्णन हो गया। दूसरा अर्थ प्राणी है और वही यहाँ पर गृहीत है। अतः शरीर का ग्रहण तो स्वयं हो गया फिर आत्मा का शरीर अर्थ करने पर क्या संगति बैठेगी ?। इन सबको क्रमशः कहने के पश्चात् शतपथ १४।३।७।३१ में कहा गया है कि "जो[1] आत्मा में रहता है और आत्मा के अन्दर यह आत्मा=परमात्मा है परन्तु आत्मा= जीवात्मा इसे नहीं जानता है और जिस परमात्मा का यह जीवात्मा शरीर है—वही आत्मा=परमात्मा अन्तर्यामी है।" अन्तर्यामित्व बिना व्यापकता के हो भी नहीं सकता है। इन्हीं सन्दर्भों के साथ वेदान्त १।२।१८[2] में भी परमेश्वर को अन्त-र्यामी और आत्मा में व्यापक कहा गया है। वेदान्त १।२।७ सूत्र में परमेश्वर को सब में व्यापक कहा गया[3] है। इस प्रकरण में इससे आगे १९ सूत्रों में भी यही प्रतिपादित है।

---

[1]य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरोऽयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।

शतपथ १४।३।७।३१।।

[2]अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्। वेदान्त १।२।१८।।

[3]अर्भकौक्स्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च।

वेदान्त १।२।७

श्री यक्ता का यह कहना भी गलत है कि "व्याप्य" पदार्थ नियम से नाशवान् होता है और कोई भी व्याप्य पदार्थ ऐसा नहीं बताया जा सकता है जो नाशवान् न हो। हर एक व्याप्य पदार्थ नाशवान् हो ऐसा नियम दर्शनों में कहीं नहीं मिलता है। यक्ता जी को यह नियम दिखलाना चाहिए था। वस्तुतः कभी भी दर्शनों में ऐसा नियम कोई जन्म-जन्मान्तर में भी नहीं दिखला सकता है। आकाश, दिशा, परमाणु, प्रकृति और जीव में परमात्मा की व्यापकता होने से ये व्याप्य हैं परन्तु नाशवान् नहीं। कोई भी वस्तु कार्य होने एवं स्थूल और सावयव होने से नाश वाली होती है व्याप्य होने से नहीं। जिसने दर्शन देखा होगा वह ऐसी बात कभी नहीं करेगा कि व्याप्य मात्र नाशवान् होता है। न्यायदर्शन ४।२।१८-२० में चले प्रकरण को दिखलाते हुये ४।२।२२ सूत्र पर आचार्य वात्सायन कहते हैं[1] "कारणविभाग से कार्य की अनित्यता होती है; आकाश के व्यापक होने से नहीं। लोष्ठ का अवयवविभाग बनने से उसकी अनित्यता है—आकाश के उसमें व्यापक होने से नहीं।" अतः आत्मा-जीवात्मा आदि के निरवयव नित्य होने से उनमें सर्वव्यापक परमेश्वर के व्यापक होने से वे अनित्य नहीं हो जाते हैं। वे स्वभावतः अविनाशी और नित्य हैं फिर नाशवान् कैसे हो सकेंगे।

इस प्रकार वेद, दर्शन, उपनिषद् और युक्ति आदि से महर्षि का पक्ष सिद्ध कर दिया गया—फिर भी कोई वेदानुयायी इसे नहीं स्वीकार करेगा—यह 'यक्ता' जी ही जानें।

---

[1]कारणविभागाच्च कार्य्यस्यानित्यत्वं नाकाशव्यतिभेदात् लोष्ठस्यावयवविभागादनित्यत्वं नाकाश समावेशात्। न्या० वा० ४।२।२२

२९—यहाँ पर सत्य का अर्थ समुचित ही है। "यथार्थे वाङ्मनसे" की ही यह व्याख्या है। "सत्य अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने।" महर्षि के वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि सत्य को ज्ञान में जैसा निश्चित किया है यदि बोलना पड़े तो वैसा ही बोले, वैसा करे और वैसा ही माने। ब्रह्मचर्य का अर्थ भी जो किया है वह "गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः" शब्दों की व्याख्यामात्र है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब ब्रह्मचर्य का ऐसा लक्षण है तो फिर आश्रमधर्म को मानना चाहिए अथवा नहीं—इसी का समाधान करने के लिए महर्षि ने विस्तृत व्याख्या की और बताया कि विवाह करना मात्र (गृहस्थ होने मात्र) से ब्रह्मचर्य का विरोध नहीं होता है। महर्षि के इस वाक्य से यहाँ यह भी स्पष्ट हो गया कि गृहस्थ भी योगी हो सकता है। ब्रह्मचर्य का योग प्रतिपादित नियम इसमें बाधक नहीं। यदि कोई मूढ व्यक्ति इस शास्त्रीय रहस्य को न समझे तो महर्षि का क्या दोष है? अपरिग्रह की भी जो व्याख्या ऋषि ने की है, वह भी संगत ही है।

३०—शौच भीतरी और बाहरी दो प्रकार का होता है। भीतरी शौच की व्याख्या करते हुये महर्षि ने वैसा लिखा है। भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण, विद्याभ्यास, सत्सङ्ग आदि शुभ गुणों के आचरण से ही होती है—इसमें कोई सन्देह नहीं। धर्म शब्द की व्याख्या पूर्व की जा चुकी है। उसको देखते हुये यक्ता जी का आक्षेप संगत नहीं ठहरता।

३१—यहाँ पर भी प्रतिष्ठा का ही भाव "निश्चय हो जाने" शब्दों से अभिप्रेत है। महर्षि ने लिखा है कि जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता

है, किन्तु उसके सामने वा उसके संग से अन्य पुरुष का भी वैर-भाव छूट जाता है।" क्या अहिंसा की सिद्धि बिना निश्चय के होती है ?। पहरा देने वालों को रखने से यह किस प्रकार सिद्ध होता है कि महर्षि को अहिंसा की सिद्धि नहीं प्राप्त थी।

३२—सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् (योग २।३६) में भी प्रतिष्ठा का निश्चय अर्थ ठीक ही है। महर्षि का यहाँ पर अर्थ यह है—"जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है तब वह जो योग्य काम करता और करना चाहता है; वह सब सफल हो जाते हैं।" यक्ता जी का कहना है कि योग्य काम तो साधारण सांसारिक मनुष्यों के भी सफल हो जाते हैं। यहाँ पर वे यह दिखलाना चाहते हैं सत्य की प्रतिष्ठा करने वाले का अयोग्य काम भी सफल हो जाता है। वह जैसा चाहे वैसा उल्टा सीधा कह कर सफल कर सकता है। यक्ता जी बतलावें कि यदि उनका माना हुआ सत्य सिद्धि वाला व्यक्ति किसी को उसी क्षण मर जाने, किसी को उसी समय मुक्ति हो जाने, संसार के उसी समय प्रलय हो जाने, तथा पशु आदि को तत्काल मनुष्य एवं मनुष्य को पशु हो जाने की बात कहे तो यह सफल हो जावेगी या नहीं। वह अपने को ही कहे कि बस मेरा योग सिद्ध हो जावे तो क्या विना अन्य अङ्गों का पालन किये भी उसका योग सिद्ध हो जावेगा।

३३—यहाँ पर "यथायोग्य" पद कह कर महर्षि ने अनर्गल और अयोग्य प्राप्ति का निषेध किया है। अर्थात् अस्तेय की प्रतिष्ठा कर लेने पर वही उत्तम पदार्थ प्राप्त होंगे; जिसके प्राप्त करने के वह योग्य है अथवा जो उसके प्राप्ति के योग्य हैं।

३४—यहाँ पर महर्षि ने जो अर्थ किया है 'ब्रह्मचर्य' पद में पड़े हुये "ब्रह्म" पद के भिन्नार्थ को लेकर किया है। 'ब्रह्म' का अर्थ वीर्य है, अतः उसकी रक्षा ब्रह्मचर्य है ब्रह्म का अर्थ विद्या और ज्ञान है अतः उसकी प्राप्ति के लिए नियम से रहना और अध्ययन आदि करना ब्रह्मचर्य है। अतः इतना बड़ा विस्तृत अर्थ इसी आधार को लेकर महर्षि ने किया है। इसी के साथ आगे लिखते हैं "तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है—एक शरीर का दूसरा बुद्धि का। उस के बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है,,। यहाँ पर शरीर का बल, और बुद्धि का बल बढ़ने से अत्यन्त आनन्द में रहने की बात ही स्पष्ट कर देती है कि इसमें व्यासभाष्य की बातें आ गयी हैं। सन्तान वाला भी योगी हो सकता है। जनक आदि गृहस्थ योगी थे। कृष्ण भी गृहस्थ होते हुये योगी थे। सन्तान उत्पन्न करने के लिए किसी को भी शरीर बल की आवश्यकता पड़ती ही है। नपुंसक तो सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकता। वीर्य भी तो शरीर का ही एक बल है। यह ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठा की मिट्टी कूटना नहीं है बल्कि मिट्टी को कूटकर उसकी दृढ़ता की स्थण्डिल तैयार कर देना है।

३५—यक्ता जी का यहाँ पर आक्षेप बिल्कुल निराधार और उनके ही पक्ष का खण्डन करने वाला है। क्या "मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और मुझे क्या करना चाहिए" इसमें "जन्मकथन्ता", जन्म के प्रकार का ज्ञान नहीं आ जाता है ?। महर्षि के ऐसे कहने से यह स्पष्टीकरण भी अभिप्रेत है कि दूसरे के भी भूत, भविष्यत् जन्म को ढोंगी योगी न बतलाने लगें।

३६—यहाँ पर महर्षि के "अन्तः करण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता (स्वच्छता) और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय, आदि पद

ही बतला देते हैं कि शौच से अपने अङ्गों में जुगुप्सा उत्पन्न हो जाती है। अन्तः करण और मन के गन्दे होने पर ही शुद्ध करने का प्रश्न उठता है। यह अशुद्धि अङ्गों में घृणा उत्पन्न करती है। महर्षि ने अर्थ में अगले सूत्र का भी अर्थ कर दिया है।

३७—यहाँ पर 'कायेन्द्रिय० २।४३'' सूत्र पर जो कुछ महर्षि ने लिखा है वह सूत्र का भाव है। शब्दार्थ मात्र नहीं। महर्षि के वाक्य हैं—पूर्वोक्त तप से उनके शरीर और इन्द्रियाँ अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके सदा रोग रहित रहती हैं। यहाँ पर इन वचनों में अणिमादिक का निषेध नहीं है—केवल मूल सूत्र का भाव मात्र दिखाया गया है। शरीर और इन्द्रियों को उत्कृष्टता प्राप्त हो जाती है—यही सूत्र का भी आशय है और यही महर्षि का भी भाव मालूम पड़ता है। अणिमादि सिद्धियाँ भी दृढ़ और नीरोग =योग की विघातक शक्तियों से निरुपद्रव इन्द्रियों में प्राप्त हो सकती हैं।

३८—स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः २।४४ पर इष्टदेवता =परमेश्वर के साथ संप्रयोग होता है। किससे ? स्वाध्याय से। स्वाध्याय का अर्थ महर्षि व्यास ने–मोक्ष-शास्त्रों का अध्ययन[1] और प्रणव का जप किया है।'' इसका फल परमेश्वर के साथ संप्रयोग सांझा होना युक्तिसंगत है। महर्षि ने पूर्वापर देखकर ऐसा अर्थ किया। व्यासभाष्य का अर्थ तो महर्षि ने यहाँ पर दिखलाया ही नहीं है। अपना स्वतंत्र अर्थ किया है—सूत्र के भाव को लेकर। भोजदेव के अर्थ से भी यही भाव भासित होता[2]

[1] स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। व्या० २।३२।

[2] अभिप्रेतमंत्रजपादिलक्षणे, स्वाध्याये प्रकृष्यमाणे योगिन इष्टया अभिप्रेतया देवतया संप्रयोगो भवति। सा देवता प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः।

है । व्यासदेव का अर्थ लेने पर भी यत्का के माने हुये देवता नहीं सिद्ध हो सकेंगे । क्योंकि यहाँ पर देव=ऋषि और सिद्ध=योगी पुरुष अथवा वेद के मंत्रों में वर्णित भौतिक पदार्थ (देव) स्वाध्याय से इस योगी को प्रत्यक्ष होते हैं । देव, ऋषि आदि शब्द भौतिक पदार्थों के लिये भी प्रयुक्त हाता है । ये सब दर्शन=प्रत्यक्ष का विषय बन कर योगी के कार्य को सिद्ध करते हैं । महर्षि के अर्थ से अगला "समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" सूत्र व्यर्थ भी नहीं पड़ता है । क्योंकि इस सूत्र का प्रयोजन समाधि की सिद्धि स्वाध्याय से होती है—यह बतलाना है । इससे पूर्व वाले सूत्र का अर्थ ईश्वर से सांझा अथवा उसका ज्ञान होना है । इस प्रकार दोनों में कोई सूत्र व्यर्थ नहीं पड़ता है ।

३९—यहाँ भी अर्थ सर्वथा ही युक्तियुक्त है । आत्मा की स्थिरता आदि का वर्णन २८ वें अङ्क पर इसी प्रकरण में कर दिया है ।

४०—'ततो द्वन्द्वानभिघात:' २।४८ में भी महर्षि का अर्थ ठीक ही है। वे लिखते हैं "जब आसन दृढ़ होता है तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है और न सर्दी गर्मी अधिक बाधा करती है ।" महर्षि के अर्थ में जो भाव निहित है वही व्यासभाष्य में भी है । महर्षि के वचन से यदि बाधा की सत्ता सूचित होती है तो व्यास भाष्य से भी सूचित होती है । इस रहस्य को न समझ पाना दयानन्दरहस्य के लेखक की ही योग दर्शनतत्त्व से अनभिज्ञता है । व्यासभाष्य में लिखा है कि "शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों से, आसनजय हो जाने से अभिभूत नहीं होता[1] है ।" क्या यहाँ पर "अभिभूयते" क्रिया पीड़ा की सत्ता

[1] शीतोष्णादिद्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते । व्यासभाष्य २।४८।

को नहीं सूचित करती है । इसका स्पष्ट अर्थ है कि पीड़ा से वह अभिभूत नहीं होता है ।

४१—'धारणासु योग्यता मनसः' २।५३ सूत्र पर महर्षि ने जो कुछ लिखा है वह 'दयानन्द रहस्य' के लेखक की समझ में नहीं आया । स्थूल दृष्टि वाले की वस्तुतः यही दशा होतो है । महर्षि के वाक्य में "व्यवहार के विवेक का बराबर बढ़ते रहना" इतना ही वाक्य नहीं है । उक्त लेखक ने महर्षि के वाक्य के एक अंश को छोड़कर दूसरा अंश लेकर अपनी तुक्कड़बाजी करनी प्रारम्भ कर दी । महर्षि का पूरा वाक्य निम्न प्रकार है—

"परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्षपर्यन्त उपासनायोग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है । तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है । इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी जान लेना ।"

यहाँ पर 'व्यवहार' के बाद "और परमार्थ" पद पड़े हैं। यत्ता जो ने इन "और परमार्थ" पदों को बीच से निकाल ही दिया और व्यर्थ के आक्षेप महर्षि पर किये हैं । यह कितना घृणित कार्य है कि वाक्य के मध्य से पदों को निकाल कर उल्टा और बेतुका आक्षेप किया जावे । धारणा के प्रतिपादक सूत्र में 'धारणासु' बहुवचन पाठ आया है । अतः धारणा के प्रकार कई होते हैं, यह सुतराम् विदित हो जाता है । अन्यथा 'धारणाओं' में कहने की सूत्रकार को कोई आवश्यकता नहीं थी । परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा भी धारणा का प्रकार हो है । ऐसी धारणा करने से परमार्थ क्या है और व्यवहार क्या है ? इसका विवेक भी होना स्वाभाविक है । महर्षि को यहाँ पर

प्राणायाम और धारणा का एक ही फल दिखलाई पड़ रहा है—यह कथन भी सुतराम् गलत है। यहाँ पर तो यही लिखा है कि "इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी जान लेना।" प्राणायाम से मन में धारणा की योग्यता बढ़ती है। यही भाव यहाँ पर स्पष्ट ज्ञात होता है। व्यासभाष्य में भी "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां प्राणस्य" सूत्र का उद्धरण देकर इसी बात को स्पष्ट किया गया है। अतः "यक्ता" जी का आक्षेप सर्वथा ही निराधार और व्यर्थ का है।

(४२) यहाँ पर संस्कृत और भाषा में दिये गये अर्थों में कोई विरोध नहीं है। संस्कृत में लिखा है "यदा चित्तं जितं भवति परमेश्वरस्मरणालम्बनविषयान्तरे नैव गच्छति तदिन्द्रियाणां प्रत्याहारोऽर्थान्निरोधो भवति। कस्य केषामिव यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति तथैवेन्द्रिण्यपि अर्थाच्चित्ते जिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम्" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका उपासना प्रकरण) अर्थात् जब चित्त को जीत लिया जाता है तब परमेश्वरस्मरण के आलम्बन को छोड़ कर भिन्न विषय में नहीं जाता है—यही इन्द्रियों का प्रत्याहार है—अर्थात् निरोध है। किसका किसकी भाँति ?—जिस प्रकार चित्त परमेश्वर के स्वरूप में स्थित हुआ जीता हुआ हो जाता है; उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी। अर्थात् चित्त के जीत लिए जाने पर सब इन्द्रियाँ आदि भी जीते हुए हो जाते हैं—ऐसा समझना चाहिए। हिन्दी भाषा में महर्षि का लेख निम्न प्रकार है—

'प्रत्याहार उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलाने वाला है। मन को जीत लेना—शब्द

ही विषयों के असम्प्रयोग को सिद्ध कर देता है। व्यास भाष्य का निम्न वचन भी महर्षि के अर्थ की ही पुष्टि करता है—"चित्त-निरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरम-पेक्षन्ते.................तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहारः" अर्थात् चित्त के निरोध हो जाने पर निरुद्ध हुई इन्द्रियाँ इन्द्रिय जय के किसी दूसरे उपाय की अपेक्षा नहीं रखती हैं।...........चित्त के निरुद्ध हो जाने पर इन्द्रियों का निरुद्ध हो जाना—यह प्रत्याहार है।

(४३) देशवन्धश्चित्तस्य धारणा ३।१ भाष्य में महर्षि ने "बाह्यविषय" के तत्व को नहीं भुलाया है। "ओंकार के जप और उसके अर्थभूत परमेश्वर के विचार" शब्दों में बाह्यविषय का ही भाव प्रकट हो रहा है। व्यास ने अपने भाष्य में हृदय पुण्डरीक आदि धारणा के आन्तरिक (स्व शरीरान्तर्वर्त्ती होने से) स्थानों को देकर "बाह्ये वा विषये" शब्द से जिन बाह्य विषयों को लिखा है; उसी का अर्थ ओंकार जप आदि है। आपकी पाषाण की मूर्तियाँ कहीं धारणा का विषय न बनने लगें—अतः महर्षि ने "बाह्ये वा विषये" का अर्थ ओंकार का जप और उसके अर्थ-भूत परमेश्वर का विचार करना लिखा है। योगदर्शन सूत्र १।२८ के व्यासभाष्य[1] को ध्यान में रखकर हो महर्षि ने "बाह्ये वा विषये" का अर्थ समझा और यहाँ पर रखा। 'यक्ता' जी को पूर्वापर का ज्ञान तो है नहीं अतः कुछ भी कह सकते हैं।

---

[1]तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतः चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते—अर्थात् प्रणव का जप और उसके अर्थ की भावना करने वाले योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है। व्यास भाष्य १।२८

(४४) यहाँ पर भी सूत्र की मिट्टी महर्षि ने नहीं कूटी है—यक्ता जी ही कूट रहे हैं। जब धारणा के विषय पृथक्-पृथक् हैं जैसा पूर्व लिखा जा चुका है तो उसी प्रकार ध्यान के "प्रत्यय" भी पृथक् होंगे। जो ईश्वर में धारणा करेगा उसका प्रत्यय ईश्वर-विषयक होगा। अतः ईश्वर को धारणा का विषय बता कर महर्षि का यहाँ पर तदनुरूप ध्यान का लक्षण करना संगत ही है। ईश्वर में धारणा करने पर उसी विषय के प्रत्यय में जो एकतानता होगी वही ध्यान होगा। इसमें सन्देह नहीं कि इस विषय को महर्षि जैसा अद्वितीय योगी ही समझ सकता है—कोई अद्वितीय भोगी एवं अद्वितीय अज्ञानरोगी नहीं।

(४५) महर्षि की भाषा तो बहुत ही संयत है परन्तु जिसको भाषा और संयतता का कुछ भी परिज्ञान नहीं है वह इसे असंयत समझेगा। इसमें महर्षि का दोष नहीं—समझने वाले का दोष है। जब धारणा और ध्यान में ईश्वर को विषय बनाने का उल्लेख महर्षि कर चुके हैं तब समाधि भी स्वभावतः उसी में होगी और इसी का स्पष्टीकरण करने के लिए लोहे और अग्नि का दृष्टान्त देकर विषय को विशद किया है। सूत्र का अर्थ तो इसमें स्पष्टतः संगत है। ईश्वर रूपी ध्येय के स्वरूप का निरन्तर भान होना और अपने स्वरूप को (अग्नि से सन्तप्त लोहे के समान ईश्वर के गुणों से युक्त हो) भूल जाना समाधि है।

"ध्यान में तो ध्यान करने वाला, जिस मन से, जिस चीज का ध्यान करता है—वे तीनों विद्यमान रहते हैं परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है—वहाँ तीनों का भेद-भाव नहीं रहता" आदि का यह

अर्थ नहीं है कि ये ध्याता, ध्यान और ध्येय समाधि में विद्यमान नहीं रहते हैं—बल्कि ध्याता की बुद्धि में विवेचित नहीं रहते हैं। ध्यान में तीनों का भान रहता है। जो दर्शन के तत्त्व को जानता होगा वह भी इसी परिणाम पर पहुँचेगा। योगदर्शन के भाष्य-कार महर्षि व्यास भी यही लिखते हैं। इसी सूत्र पर किये गये उनके भाष्य को देखना चाहिए। क्या यक्ता जो की भाषा के अनुसार व्यास जी को भी मूर्खों से धन और प्रतिष्ठा की प्राप्ति की लोलुपता थी; जो उन्होंने योगदर्शन के इस सूत्र के भाष्य में बहुत समय पूर्व वही बात लिखी, जो पश्चाद्वर्ती युगद्रष्टा योगी महर्षि दयानन्द लिख गये। व्यास जी लिखते हैं कि "यहाँ पर यह समझना चाहिए। ध्यातृ,[1] ध्येय, ध्यान का प्रभेद जिसमें प्रतीत हो वह ध्यान कहाता है—उससे रहित समाधि है। यहाँ क्या वही बात नहीं लिखी है, जो महर्षि ने लिखी है। क्या व्यास देव की भाषा भी आडम्बर युक्त और असंयत है ? क्या उन्हें भी सूत्रार्थ नहीं ज्ञात था ?

महर्षि ने संस्कृत में भी इस विषय में जो कुछ लिखा है; वह व्यास के भाष्य के अनुसार ही है। व्यास भी कहते हैं—कि—"यह[2] ध्यान और समाधि का भेद है।" फिर अगर महर्षि ने "ध्यानसमाध्योरयं भेदः" लिखा तो क्या आपत्ति खड़ी हो गई ?

---

[1] इदमत्र बोध्यम्—ध्यातृ-ध्येय-ध्यानकलनावत् ध्यानं तद्रहितं समाधिरिति ।। व्यास भाष्य ३।३।।

[2] ध्यातृ-ध्येय-ध्यानकलनावत् ध्यानं तद्रहितं समाधिरिति । ध्यान समाध्योर्विभागः । व्यास० ३।३।।

(४६) महर्षि ने "त्रयमेकत्र संयमः ३।४ पर संयम को योग का नवां अङ्ग नहीं बतलाया है—बल्कि संयम को अपने प्रतिपाद्य-विषय उपासना का नवाँ अङ्ग बतलाया है। यह ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना-विषय का उपसंहार है—योग-दर्शन का नहीं। महर्षि के शब्द भी बहुत ही स्पष्ट हैं—"संयमश्चोपासनाया नवमाङ्गम्" अर्थात् संयम उपासना का नवाँ अङ्ग है। यहाँ पर योग का नवाँ अङ्ग तो कहीं पर भी नहीं लिखा है। दयानन्द रहस्य के लेखक जी से ही पूछना चाहिए कि यहाँ पर किस अन्धे को दूर की सूझी ?। उत्तर पाठक जन सरलता से निकाल सकेंगे।

(४७) यहां पर महर्षि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में मुक्ति विषय का संक्षेप में वर्णन कर रहे हैं। बन्ध अविद्या से होता है और मोक्ष ज्ञान से होता है। अतः अविद्या के विनाश करने वाले ज्ञान की प्राप्ति का ही वर्णन मुख्य है। यही कारण है कि सूत्र का शब्दार्थ न देकर भावमात्र दिया है। यहां पर विषयानुरूप प्रमाण देना अभिप्रेत है—अर्थविस्तार नहीं। यहां पर महर्षि के शब्द निम्न प्रकार हैं—

उन में से अस्मिता आदि चारों क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है, जो कि मूढ़ जीवों को अन्धकार में फँसा के जन्ममरणादि दुःख सागर में सदा डुबाती है। परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों की सत्यविद्या से, अविद्या (विच्छिन्न) अर्थात् छिन्नभिन्न होके (प्रसुप्ततनु) नष्ट हो जाती है, तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं।" यहां पर "उनमें से" से लेकर "दुःख सागर में डुबाती है" पर्यन्त "अविद्याक्षेत्र मुत्तरेषाम्०" सूत्र का भाव मात्र है। शेष "परन्तु" से लेकर

"मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं" पर्यन्त स्वतन्त्र वाक्य है। "अस्मिता आदि" कह कर 'उत्तरेषाम्' से कहे गये चार (अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) क्लेशों को कह दिया और माता कहकर उसका इन क्लेशों की क्षेत्रभूमि (कारण) होना कह दिया। "मिथ्याभाषणादि दोषों" कह कर इन अविद्या आदि क्लेशों से उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियों को कह दिया। "जोकि मूढ़ जीवों को············जन्ममरणादि दुःखसागर में डुबाती है" कह कर अविद्या के रहते हुए होने वाले जाति, आयु, भोग की प्राप्ति के साधन भूत संसार को कह दिया। "दुःख सागर" कहकर प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार भाव से संसार में विराजमान दुःखों की अवस्था को बतला दिया। शेष स्वतन्त्र वाक्य का इन सूत्रों के शब्दों से कोई सम्बन्ध नहीं। वहां "विच्छिन्न" और 'प्रसुप्ततनु' स्वतन्त्र शब्द है और अपने भिन्नार्थ में प्रयुक्त है।

(४८) यहां पर भी अविद्या की व्याख्या में लिखे गये वाक्यों के न समझने और व्यर्थ का कटाक्ष करने में दयानन्दरहस्य के लेखक का घोरतम अज्ञान ही प्रकट हो रहा है। जिन आक्षेपों को उसने किया है वे उठते ही नहीं। महर्षि के वाक्य निम्न प्रकार हैं—

'अविद्या के लक्षण ये हैं—(अनित्य) अर्थात् कार्य (जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोक लोकान्तर हैं) में नित्य बुद्धि, तथा जो (नित्य) अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रियाक्रियावान्, गुणगुणी और धर्मधर्मी है—इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है—इनमें अनित्य बुद्धि का होना यह अविद्या का प्रथम भाग है।" यहाँ पर क्रियाक्रियावान्, गुणगुणी और धर्मधर्मी के साथ नित्य शब्द लगे होने से नित्यों का ही ग्रहण है, अनित्यों का

नहीं। साथ ही 'इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है।" इस से सम्बन्ध की नित्यता (समवाय) का वर्णन स्पष्ट प्रकट हो रहा है। इस नित्य सम्बन्ध को भी अनित्य मानना अविद्या है। धर्म और धर्मी का अर्थ भी यक्ता जी का माना हुआ अर्थ नहीं है। व्यासदेव धर्म का लक्षण करते हुए योगसूत्र ३।१४ पर कहते हैं कि "योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेवधर्मः—अर्थात् योग्यता से युक्त धर्मी की जो शक्ति है वही धर्म है। इसी आशय को लेकर महर्षि ने धर्म धर्मी पदों का प्रयोग किया है। योगदर्शन ईश्वर जीव प्रकृति को नित्य मानता है—यह तो 'यक्ता' जी भी मान ही रहे हैं। इतने अंश में तो महर्षिकृत अविद्या का लक्षण भी उन्हें मान्य है ही। ईश्वर जीव प्रकृति की नित्यता वेद और तदनुकूल शास्त्रों से प्रतिपादित होने से सर्वतंत्र सिद्धान्त है। नित्यों का प्रसंग महर्षि के वाक्य में होने पर भी अनित्य का प्रसंग लेना सर्वथा ही अनुचित है। वैशेषिक सिद्धान्त में गुण-गुणी, क्रिया क्रियावान् और धर्म-धर्मी—भेद के साथ ही वर्णित हैं। फिर तो वैशेषिककार दुगुनी अविद्या वाला ही आपके कथनानुसार ठहरेगा। पौराणिक लोग जो अमर देवता स्वीकार करते हैं—इसे भी व्यासदेव ने योगसूत्र २।५ के भाष्य में अविद्या ही माना है। वह लिखते हैं—अनित्य कार्य में नित्यख्याति अविद्या है—जैसे[1] पृथिवी, द्यौः, चन्द्र, तारावों को नित्य कहना तथा देवों को अमर कहना।" तथा तालाब, बावरी, कुण्ड, कूँआ और नदी आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना—भी अविद्या ही है। महर्षि का लेख सर्वथा सार्थक और संगत है। बाह्य शौच

[1]अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः। तद्यथा ध्रुवा पृथिवी ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः अमृता दिवौकस इति। व्या. भा. २।५

में जल आदि साधन होते हुए भी वे पाप छुड़ाने में असमर्थ हैं। अत: पौराणिकों की इनमें पाप छुड़ाने की बुद्धि अविद्या ही है।

एकादशी आदि व्रतों को जिस रूप में मानकर व्रत किया, जाता है—वह भी अविद्या ही है। 'एकादश्यामन्ने पापानि वसन्ति एकादशी को अन्न में पाप वसता है—ऐसी धारणा से इन व्रतों को करना अविद्या नहीं तो और क्या है ?। अविद्या भी तो "अतस्मिंस्तद्बुद्धि:" को ही कहा जाता है। श्री यक्ता जी को यहां पर अपशब्द प्रयोग करने के अतिरिक्त और कुछ लाभ नहीं हो सका। उन्हें यह क्रोध इसलिए आया कि पौराणिक भाइयों के माने हुये, अवतार, व्रतफल, तीर्थ, मूर्त्तिपूजा, अमर देवता, आदि सम्बन्धी सिद्धान्त अविद्या में आ जाते हैं।

(४९) सुख के लक्षण में "राग अर्थात् जो जो सुख" शब्दों का स्पष्ट कथन होने से, दु:ख के लक्षण में 'जिस अर्थ का पूर्व अनुभव हुआ हो..................आदि" शब्दों से सुख लक्षण में अति व्याप्ति नहीं आती है। साथ ही "जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया हो उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोध बुद्धि का होना" इस लक्षण में "सदा क्रोध बुद्धि होना" बतलाता है कि सुख में यह अतिव्याप्त नहीं है। क्या सुख और उसके साधनों में भी सदा क्रोध बुद्धि होती है ?। जिसको व्याप्ति, अव्याप्ति का भी परिज्ञान न हो; वह एक महर्षि पर आक्षेप करे कितने आश्चर्य की बात है।

(५०) "सब बन्धनों और दुखों" में पुरुष और बुद्धि का संयोग भी आ जाता है। इनके छूटने में उसका अभाव भी आ जाता है।

(५१) प्रवर्तनालक्षणा दोषाः न्याय १।१८ सूत्र से राग द्वेषादिक प्रवृत्ति के हेतुभूत विकार दोषों में आते हैं। सब दोष कह देने का अर्थ ही है कि लिखने वाला दोषों को जानता है। स्वयं भाष्यकार वात्सायन ने[1] भी राग, द्वेष के अतिरिक्त मोह का भी ग्रहण दोषों में किया है। वह आगे भी कहता है कि राग, द्वेष और मोह के कहे जाने से बहुतों का ग्रहण हो जाता है। अथवा बहुत कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः राग और द्वेष ही केवल दोष हैं—यह कहना पूर्ण नहीं है। लोभ एक प्रकार के राग में गिना जाता है अतः वह भी दोष में आता ही है। दोष में भाष्यकार वात्सायन[2] ने भी लोभ का ग्रहण किया है। प्रवृत्ति न्यायदर्शन के अनुसार वागारम्भ, बुद्धचारम्भ और शरीरारम्भ भेद वाली होती है। विषयासक्ति की वासना कह देने से ही धर्म प्रवृत्ति का भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि विषयासक्ति केवल अधर्म से ही नहीं होतो है। वासना आशय का नाम है। यह कर्म फलों की होती है। कर्मफल बुरे भले कर्मों के होते हैं। कर्म प्रवृत्ति से होते हैं—अतः वासना कहने से प्रवृत्ति उसमें आ जाती है। प्रवृत्ति का अर्थ प्रवर्तना है। सत्यार्थ प्रकाश में कहीं पर भी वासना को प्रवृत्ति नहीं लिखा है।

महर्षि ने पुरुषार्थ पद का भी जो अर्थ किया है; वह सर्वथा ही युक्त है। दयानन्दरहस्य के लेखक ने जितने आक्षेप किये, सब

---

[1] प्रवर्तना प्रवृत्तिहेतुत्वम् ज्ञातारं हि रागादयः प्रवर्त्तयन्ति पुण्ये पापे वा·········रागद्वेषमोहा इत्युच्यमाने बहुनोक्तं भवतीति। न्या० वा० भा० १।१८

[2] असूयेर्ष्यामायालोभादयो दोषा भवन्ति। न्या० वा० १।१।२

का उत्तर क्रमशः दिया गया। महर्षि की भाषा भी संयत है और अर्थ भी युक्तियुक्त हैं। दोष दिखाने मात्र से कार्य नहीं चलता है। दोष को सिद्ध करना भी तो चाहिए था। वैसे तो कोई भी मुख अपना होने से सभी वस्तुओं को दोष कहता रहे। कोई मुँह पकड़ने तो नहीं जाता है। महर्षि अद्वितीय दर्शन तत्त्ववेत्ता थे—यह इस प्रकरण में सब आक्षेपों का समाधान करके सिद्ध कर दिया गया।

———

महर्षि और इतिहास

महर्षि दयानन्द जहाँ वेद-वेदाङ्गों के निष्णात थे; वहाँ इतिहास के भी वे अच्छे ज्ञाता थे। सत्यार्थ प्रकाश ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में भारतीय राजाओं की वंशावलि और उनके राज्य-काल की अवधि का एक चित्रण भी उन्होंने उपस्थित किया है। पाठक-गण वहाँ पर देख सकते हैं। ग्यारहवें समुल्लास के प्रारंभ में भी एक छोटा सा सुसंगत वर्णन उन्होंने इतिहास के आधार पर किया है।

दयानन्दरहस्य के लेखक ने पृष्ठ १९७-१९९ पर्यन्त यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि महर्षि को इतिहास का परिज्ञान नहीं था। इस आक्षेप का समाधान यहाँ पर किया जाता है।

दयानन्द रहस्य का लेखक कहता है कि स्वामी जी ने "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिम् मत्" ऋग्वेद १०।१०।१० मंत्र का पति-पत्नी का संवाद कह कर नियोग अर्थ कर दिया। यह मंत्र भाई बहन के संभोग के निषेध का है। स्वामी जी के अर्थ को देखते हुए अब वेद में भाई बहन के विवाह के निषेध का कोई मंत्र शेष नहीं रहता।

परन्तु इस लेखक को इतना भी परिज्ञात नहीं कि यह मंत्र और इस मंत्र वाला समस्त यमयमी सूक्त अथर्ववेद के अष्टादश काण्ड के प्रथम सूक्त में भी पाया जाता है। "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" मंत्र इस सूक्त का ११ वाँ मंत्र है। इस अथर्व मंत्र से भाई बहन के विवाह का निषेध हो जावेगा और ऋग्वेद

वाला मंत्र महर्षि के अनुसार नियोग का अर्थ देता रहेगा, अब तो कोई आपत्ति नहीं रहेगी ?। इसके अतिरिक्त ऐसी चिन्ता ही उसे क्यों करनी चाहिए, लेखक के द्वारा माने गये पुराणों में से भविष्य पुराण भी एक है और उसमें तो ब्रह्मा आदि देवों के द्वारा पुत्री, बहन और माता से विवाह करना वैदिक कहा गया[1] है।

रामचन्द्र जी यक्षा का कथन है कि नियोग प्रकरण में व्यास के द्वारा अम्बिका आदि में जो नियोग को बात महर्षि ने कही हैं; वे अनिश्चयात्मक और इतिहास की दृष्टि से उल्टी हैं और इससे यह ज्ञात होता है कि महर्षि को इतिहास का परिज्ञान नहीं था।

यहाँ पर इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए मैं महर्षि के शब्दों को ही उद्धृत कर देता हूँ।—"जैसा पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री आदि ने किया और जैसा व्यास जी ने चित्राङ्गद और विचित्र वीर्य के मर जाने के पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर को उत्पत्ति की—इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण हैं" (सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास शताब्दी संस्करण ग्रन्थमाला)। महर्षि के शब्द यहाँ पर इतने स्पष्ट हैं कि इनमें यक्षा जी के उठाये हुए किसी सन्देह को स्थान नहीं रह जाता है।

---

[1]यातु ज्ञानमयी नारी वृणेद्यं पुरुषं शुभम्। कोऽपि पुत्रः पिताभ्राता स च तस्याः पतिर्भवेत् ॥२६॥ स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णुदेवः स्वमातरम्। भगिनीं भगवाञ्छंभुश्च गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात् ॥२७॥ भविष्य पुराण प्रतिसर्ग पर्व अष्टादश अध्याय श्लोक २६-२७। वेंकटेश्वर छापा सन् १९५९।

(१) यहाँ पर महर्षि ने लिखा है "चित्राङ्गद और विचित्र वीर्य के मर जाने के पश्चात्"। इसका तात्पर्य केवल इनकी मृत्यु के उपरान्त ही है।

(२) "उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके" यहाँ पर यह नहीं लिखा है कि चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य की तीन स्त्रियाँ हैं—अम्बिका, अम्बा और अम्बालिका।

(३) "अम्बिका में धृतराष्ट्र, अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की" इस कथन में स्पष्ट है कि धृतराष्ट्र की उत्पत्ति अम्बिका में हुई। दो स्त्रियों में धृतराष्ट्र की उत्पत्ति इस वाक्य में सिद्ध नहीं होती।

(४) यहाँ पर कोई भी ऐसा शब्द नहीं; जिससे महर्षि ने अम्बा और अम्बिका को एक स्त्री समझा हो।

इससे यह ज्ञात हुआ कि यक्ता जी का आक्षेप कितना व्यर्थ और निरर्गल है। यक्ता को शायद "उन अपने भाइयों की स्त्रियों" शब्दों पर आपत्ति हो क्योंकि चित्राङ्गद तो विवाह से पूर्व ही मर गया था और विचित्रवीर्य विवाह के पश्चात् मरा और अम्बिका और अम्बालिका उसकी ही स्त्रियाँ थीं। परन्तु महाभारत के पूरे आख्यान को देखने पर महर्षि द्वारा इन पूर्वोक्त शब्दों का प्रयोग ठीक ही मालूम पड़ता है। महाभारत आदि पर्व में १०२ अध्याय से लेकर १०५ अध्याय तक इस पूरे आख्यान का वर्णन मिलता है। अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका काशीराज की पुत्रियाँ थीं। इन्हें स्वयंवर में भीष्म जी हर लाये। किस प्रकार हर लाये ? वरण करके। वैशम्पायन के शब्द इसके साक्षी

रूप[1] हैं। इन तीनों के विवाह की वार्ता चलाने पर "अम्बा" ने कहा कि वह मन से स्वयंवर में सौभयति शाल्व को चुन लिया है। वेद शास्त्रज्ञों की राय से उसे भीष्म ने शाल्व के पास जाने की आज्ञा दी। यद्यपि शाल्व ने भी उसे स्वीकार नहीं किया। लौट कर आने पर भीष्म ने भी उसे विवाह के लिए स्वीकार नहीं किया और वह तपस्या करने चली गई। अम्बिका और अम्बालिका का विवाह विचित्रवीर्य (जो छोटा भाई था) से कर दिया[2]। सात वर्ष तक उन स्त्रियों के साथ विहार करता हुआ विचित्रवीर्य मर गया। माता सत्यवती ने भीष्म से नियोग के लिए आग्रह किया। भीष्म को यह स्वीकार ही कब था। अतः दोनों ने सम्मति करके व्यास को नियोग करने पर सहमत किया। व्यास के नियोग करने से धृतराष्ट्र आदि उत्पन्न हुए। काले व्यास की श्वेत दाढ़ी आदि को देखकर नियोगसमय में अम्बिका ने आँख मूँद ली अतः धृतराष्ट्र अन्धा[3] उत्पन्न हुआ। राजवंश तो चला परन्तु राज्य का पालन कैसे होगा अतः सत्यवती ने व्यास से अम्बालिका के साथ नियोग

---

[1] भीष्मस्तदा स्वयं कन्या वरयामास ताः प्रभुः।
उवाच स महीपालान् राजाञ्जलदनिःस्वनः।
महा० आदि पर्व अध्याय १०२ श्लोक ११

[2] अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद् भ्रात्रे यवीयसे।
भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा॥
महा० आ० प० अ० १०२ श्लोक ६५

[3] तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने।
बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि च दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत्।
१०५ अ० श्लोक ५

करने को कहा। जब व्यास जी उससे नियोग करने गये तो उन्हें देखकर पाण्डु के सदृश हो गयी। अतः पाण्डु पाण्डुवर्ण का उत्पन्न हुआ[1]। इससे भी सत्यवती को सन्तोष न हुआ। उसने पुनः ऋतुकाल आने पर ज्येष्ठ बधू अम्बिका के साथ पुनः नियोग करने के लिए कहा। उस अम्बिका ने महर्षि के उस कुत्सित रूप और गन्ध का चिन्तन करके भय के मारे सत्यवती की आज्ञा नहीं मानी और अपने भूषणों से सुसज्जित कर अप्सरा के समान सुन्दर अपनी दासी को अपने स्थान पर व्यास के साथ नियोग कराने को भेज दिया। उसके हाव-भाव से व्यास परम तुष्टि को प्राप्त हुये और उसके गर्भ से विदुर की उत्पत्ति[2] हुई।

यहाँ पर स्पष्ट है कि महर्षि का कथन सर्वथा तथ्य है। चूंकि भीष्म ने स्वयंवर में से तीनों को भगाया था और वर करके। भीष्म भी व्यास के भाई ही थे। अतः "उन अपने भाइयों को स्त्रियों" पद का प्रयोग ठीक ही है।

महाभारत की इस कथा का वर्णन देवी भागवत स्कन्ध एक अध्याय २० श्लोक ५१,५२,७२ में भी पाया जाता है।

---

[1]अम्बालिकामथाभ्यागादृषिं दृष्ट्वा च सापि तम्।
विवर्णा पाण्डुसंकाशा समपद्यत भारत॥ आ० पर्व १०५ अध्याय श्लोक १५

[2]स जज्ञे विदुरो नाम कृष्णद्वैपायनात्मजः।
धृतराष्ट्रस्य वै भ्राता पाण्डोश्चैव महात्मनः॥ आ० पर्व १०५ अध्याय श्लोक २८

यह महाभारत के प्रमाण गीता प्रेस गोरखपुर संस्करण से दिये गये हैं।

महर्षि दयानन्द और भूगोल

महर्षि ने अपने ग्रन्थों में भूगोल के सम्बन्ध में निम्न बातें लिखी हैं—

१—सत्यार्थ प्रकाश—अष्टम समुल्लास में लिखा है कि यह भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है; इस लिए भूमि घूमती है।

२—सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास में पुनः लिखा है—यह चन्द्रलोक सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है, पृथिव्यादि लोक भी सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं।

३—सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास—जब आर्यावर्त में सूर्य का उदय होता है; उस समय पाताल अर्थात् अमेरिका में अस्त होता है और जब आर्यावर्त में मध्य दिन और मध्यरात्रि है—उसी समय पाताल देश में मध्य रात और मध्य दिन रहता है।

४—सत्यार्थ प्रकाश ११ वाँ समुल्लास—चीन का भगदत्त, अमेरिका का बभ्रुवाहन, यूरोप देश का विडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आंख वाले, यवन जिसको यूनान कह आये और ईरान का शल्य आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध में आज्ञानुसार आये थे।

५—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में पृथिव्यादिलोकभ्रमण, आकर्षणानुकर्षण, प्रकाश्यप्रकाशक, आदि विषयों का वर्णन किया है।

दयानन्दरहस्य के लेखक का कथन है कि महर्षि को भूगोल नहीं आता था। उसने मनुस्मृति के श्लोकों पर किये गये महर्षि के अर्थ को भाषा की पूर्वानुपूर्वी बदल कर उल्टा अर्थ कहकर लोगों के समक्ष रखने का प्रयत्न किया है। मनुस्मृति के श्लोकों को देकर जो भी ऋषि ने लिखा है; वह मनु के मत के प्रदर्शनार्थ है। मनुस्मृति २।२२ श्लोक में महर्षि ने "आर्यावर्त्त" पद को "ब्रह्मावर्त" के स्थान में परिवर्ति करके नहीं रखा है। यह ब्रह्मावर्त्त का अर्थ परक है। इसमें पाठभेद भी हो सकता है। यत्का जी के प्रातः स्मरणीय पूज्यपाददेव श्री शंकराचार्य वेदान्त सूत्र १।३।३० पर कुछ श्लोकों का उद्धरण देते हुए लिखते हैं— स्मृतिश्च भवति—तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रपेदिरे। तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः। हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते। तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तस्य रोचते। वर्तमान समय में मनुस्मृति में निम्न पाठ इन श्लोकों का पाया जाता है—

यत्तु कर्माणि यस्मिन् सन्ययुङक्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधमावृतानृते।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥ २९

मनुस्मृति १।२८-२९ ॥

इसी प्रकार १।३० श्लोक में भी शंकराचार्य वाला पाठ परिवर्त्तित है। अतः पाठ भेद के आधार को लेकर व्यर्थ का विवाद खड़ा करना उचित नहीं। आर्यावर्त्त के स्थान में ब्रह्मावर्त्त पाठ किसी समय हो गया होगा।

महर्षि द्वारा इन श्लोकों के अर्थ में दिये गये शब्द इस प्रकार हैं "उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम

में समुद्र ॥१॥ तथा सरस्वती पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती; जो नैपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकल करके बंगाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण समुद्र में मिली है; जिसको ब्रह्मपुत्रा कहते हैं इत्यादि। (सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास शताब्दी संस्करण) यहाँ पर सरस्वती अटक नदी को कहा गया है और उसका पश्चिम में होना सिद्ध है। स्यात् पश्चिमोत्तर प्रान्त नाम से यक्ता जी पश्चिम में उसका होना न मानते हों परन्तु पश्चिम तो इसमें भी लगा ही हुआ है। यक्ता जी ने वाक्य की योग्यता और आकांक्षा आदि का ख्याल बिना किये हुये और वर्तमान प्रसिद्धि की भी उपेक्षा करते हुये "सरस्वती पश्चिम में, अटक नदी पूर्व में," अर्धविराम लगाकर अपना अर्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसको वे स्यात् सुकर्म ही कहेंगे। परन्तु देखना भी तो चाहिए कि सरस्वती का ही वर्तमान नाम अटक दिया जा रहा है और "अटक नदी" पूर्व में" इस प्रकार का वाक्य छेद करने पर फिर दृषद्वती के साथ वाक्य का सम्बन्ध कैसे बनेगा। किसी बात को न समझना और बुरे शब्दों का प्रयोग करना कोई शोभनीय बात नहीं है। गागरा नदी दृषद्वती है अथवा घग्घर ही पहले दृषद्वती थी—इस कथन के लिए आपके पास क्या अकाट्य प्रमाण हैं ? जिन लोगों का आप ने नाम लिया है उनको आप प्रमाण पत्र देते रहें। परन्तु उनका यह अपना विचार है। वही सही है—इसके लिए आपके पास जब तक प्रमाण न हों तब तक महर्षि पर आक्षेप करने का साहस करना व्यर्थ है।

ब्रह्मावर्त देवनिर्मित देश कहा गया है। वह आर्यावर्त्त के लिए प्रयुक्त नहीं है। इसमें कोई हेतु भी तो होना चाहिए। क्या

यह वही ब्रह्मावर्त्त है; जिसमें मनुष्य के अतिरिक्त चेतन देव रहते हैं। अथवा ये देव कुछ और हो हैं।

भागवत पंचम स्कन्ध १६ वें अध्याय में प्रियव्रत के रथ के पहियों के द्वारा खुदने से सात समुद्रों का बनना, बीच में सात द्वीपों की स्थापना, जम्बूद्वीप का एक लाख योजन का विस्तार, पहाड़ों के राजा १ लाख योजन ऊँचे सुमेरु, हाथी के समान जामुन के बेगुठली वाले फलों के अधिक ऊँचाई से गिरने से टूटने से बनने वाली जम्बू नदी, मेरू के बीच में सबसे ऊपर दश हजार योजन बड़ी सम धरातल स्वर्णमयी ब्रह्मपुरी—आदि का वर्णन करने वाले भूगोल का कैसा ज्ञान रखते थे—इसका भी तो कुछ वर्णन करना चाहिए था।

———

महर्षि दयानन्द और पुराण

महर्षि दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों को ही पुराण और इतिहास माना है। इन ग्रन्थों में इस विषय का वर्णन मिलता है। उपनिषद्, ब्राह्मण और गृह्यसूत्र आदि में पुराण से क्या अर्थ लिया जाता है—इसका प्रतिपादन 'ब्राह्मण वेद नहीं है' इस प्रसंग में कर दिया गया है। महर्षि ने कहीं पर भी देवी भागवत, श्रीमद्भागवत और शिव पुराण आदि कल्पित पुराणों को पुराण नहीं माना है। इन पुराणों में महान् अनर्गल बातें भरी हुई हैं। महर्षि ने अपने ग्रन्थों में इनका खण्डन किया है। दयानन्द रहस्य के "पुराणमर्मज्ञ दयानन्द" शीर्षक में लिखित उसके लेखक श्री रामचन्द यक्ता के पुराण के वेदों से पूर्व अथवा समकालिक होने के विचार का सप्रमाण खण्डन किया जा चुका है। अथर्ववेद ११।७।२४ ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टा-ज्जज्ञिरे सर्वे दिविदेवा दिविश्रितः ॥"में "पुराण" पद सृष्टि विद्या सम्बन्धी मंत्रों के लिए आया है। इसका अर्थ श्रीमद्भागवत आदि १८ पुराण नहीं हैं। कर्मकाण्ड के मंत्र को यजुः कहा जाता है और सृष्टिविद्या के बताने वाले पुरुष सूक्त में पठित मंत्रों को पुराण कहा जाता है। उसी का यहाँ पर वर्णन है। इस सूक्त में ५—१२ मंत्रों तक ऋक्, साम, यजुः, उद्गीथ, हिंकार, स्वर, साममेडि, ऐन्द्राग्न, पावमान, महानाम्नी, राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अर्क, अग्न्याधेय, सत्र, अग्निहोत्र, वषट्कार, चतूरात्र, पंचरात्र, षोडशी, प्रतीहार और विश्वजित्—आदि

का वर्णन है। अतः यहाँ पर 'पुराणं यजुषा सह" का संगत अर्थ यही है कि कर्म काण्ड के मंत्रों के साथ सृष्टि विद्या सम्बन्धी मंत्र भी (उच्छिष्ट से उत्पन्न हुये।)

अथर्ववेद १०।७।२७ "यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्। एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥" मंत्र में भी पुराण का अर्थ देवी भागवतादि पुराण नहीं है। यहाँ पर भो पुराण का अर्थ सृष्टि है। पुराण इसका नाम इसलिए है कि यह "पुरानवं भवति' अर्थात् पुरानी पुनः नयी होती है। पूर्व कल्प में जिस प्रकार थी उसी को पुनः नयी करके प्रकट किया जाता है अतः यह पुराण है। मंत्र में ही स्कम्भ = परमेश्वर के एक अङ्ग को पुराण कहा गया है। इससे तो समझ लेना चाहिए था कि यहाँ पर क्या प्रासङ्गिक वर्णन है। श्री पं० सातवलेकर जी ने भी इन मंत्रों के भाष्य में अपने अथर्ववेद के भाष्य में श्री यक्ता जी का साथ नहीं दिया।

सत्यार्थ प्रकाश ग्यारहवें समुल्लास में "रथेन वायुवेगेन" पाठ पृथक् है और "जगाम गोकुलं प्रति" वाक्य पृथक् है। महर्षि ने दो पृथक् वाक्यों को देकर अक्रूर की कथा का प्रसंगमात्र दिखाया है। इन में से प्रथम वाक्य भागवत १०।३९।३८ में पाया जाता है। इससे अक्रूर के रथ का वायु के समान वेग वाला होना सिद्ध ही है। "जगाम गोकुलं प्रति" वाक्य भागवत १०।३८।२४ में "रथेन गोकुलं प्राप्तः" के रूप में मिलता है। वाक्य का अन्तर होते हुये भी भाव की एक-रूपता पायी जाती है। सूर्यास्त की बात भी इस श्लोक में स्पष्ट वर्णित ही है। महर्षि का दिया कथा प्रसङ्ग तो यहाँ पर सिद्ध ही है। भागवत में समय-समय पर श्लोकों की काट छाँट होती रही है। बम्बई के

छपे पुस्तक में अनेकों पाठ भेद पाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में महर्षि के दिये पाठ का अब पाठभेद हो गया हो सर्वथा संभव है। यक्ता जी को चाहिये था कि दक्षिण में प्राप्य हस्तलिखित भागवतों को देखकर ही इस पाठ पर आक्षेप करते। मत्स्य पुराण की सारणी के अनुसार सारे पुराणों की श्लोक संख्या ४१३५०० है। भागवत की सारणी के अनुसार ४ लाख ९ हजार ६०० है। है। परन्तु ये संख्यायें भी वर्तमान में न्यूनाधिक पायी जाती हैं। श्री आचार्य रामदेव जी के लिखे पुराणमतपर्यालोचन को आप न मानेंगे परन्तु श्री पं० ज्वाला प्रसाद जी मुरादाबादी का पुराणालोचन तो देख लेना चाहिए था। कितने श्लोकों की पुराणों में न्यूनाधिकता है, ज्ञात हो जाता।

जिस पुराण को वेदों से पूर्व अथवा समकालिक सिद्ध करने का 'यक्ता' जी का प्रयत्न है; उसमें से यह भी तो बतलावें कि सण्डे, फेब्रुवरी, सिक्स्टी आदि अंग्रेजी के शब्द कहाँ से कूद पड़े। क्या यह अंग्रेजी भाषा भी वेद से पूर्व की है। देखें उनका भविष्य पुराण क्या कहता है—

रविवारे च सण्डे च फाल्गुने चैव फरवरी।
षष्टिश्च सिक्स्टी ज्ञेया तदुदाहरमीदृशम् ॥

भविष्य पुराण प्रतिसर्गपर्व खण्ड १, अध्याय ५, श्लोक ३७।

———

क्या महर्षि ने कोई आविष्कार किये हैं?

दयानन्द-रहस्य के लेखक ने "दयानन्द जी के आविष्कार" शीर्षक से कुछ विपरीत बातें लिखी हैं। उन का यहां पर निराकरण किया जाता है। दो स्त्रियों से एक सन्तान उत्पन्न होने की बात महर्षि ने कहीं भी नहीं लिखो है। यह इस लेखक की अपनी ही सूझ है। इसका निराकरण भी "महर्षि और इतिहास" शीर्षक में कर दिया गया है।

दयानन्दरहस्य के लेखक का कथन है कि पंचमहायज्ञविधि में महर्षि ने लिखा है कि "यत्र स्वस्य मुखं सा प्राची दिक्"—अर्थात् जिधर अपना मुख हो वह प्राचीदिक् है और वैशेषिक सूत्र "आदित्य संयोगात्०" २।२।१४ के द्वारा किये गये दिशा के लक्षण को रद्दी को टोकरी में फंके जाने के योग्य बना दिया है। इस लेखक का यह भी कथन है कि यह एक नया आविष्कार है।

परन्तु इसे नहीं ज्ञात है कि वैशेषिक के इस लक्षण के उपस्थित रहते हुए भी प्राची का यह लक्षण पूर्व काल से ही होता आया है। महर्षि ने तो जहाँ पर यह लिखा है वहीं पर यह भी लिख दिया है कि "तथा यस्यां सूर्य्य उदेति सापि प्राची दिगस्ति—अर्थात् जिसमें सूर्य का उदय होता है वह भी प्राची दिक् है। यहां पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि ने न कोई नया आविष्कार ऐसा लिख कर किया है और न वैशेषिक दर्शन के लक्षण

को रद्दी की टोकरी में ही डालने का प्रयत्न किया है। प्राची के दोनों ही प्रकार महर्षि ने दिखला दिये हैं। पहला प्रकार कर्म-काण्ड और उपासना आदि की दृष्टि से दिखलाया गया है, दूसरे प्रकार के विरोध में नहीं। जिधर सूर्य के उदय की दिशा है उधर यदि किसी स्थान पर गन्दगी अथवा अविशुद्ध हवा का संचार हो तो सन्ध्या ही न की जावे यह उचित नहीं। अतः ऐसी अवस्था में जिस तरफ उपासक मुख करके बैठ जावे वही प्राची दिक् है। यक्ता जी इसको नया आविष्कार इसलिए कहते हैं कि उन्हें शास्त्र का कुछ भो परिज्ञान नहीं है।

शतपथ ब्राह्मण ८।३।२।१२ पर यह उल्लेख है कि छन्द ही दिशायें हैं। गायत्री[1] प्राचोदिक् है, त्रिष्टुप् दक्षिणा दिक्, जगती-प्रतीचोदिक्, अनुष्टुप् उदीची और पंक्ति उर्ध्वादिक् है। यहाँ पर यक्ता जी से पूछना चाहिए कि वैशेषिक का "आदित्यसंयोगात्" लक्षण कहाँ चला गया। क्या शतपथ ब्राह्मण के कर्त्ता को उनके कथन के अनुसार इस आविष्कार के लिए पदक प्रदान करना चाहिए।

मनु ने अपनी स्मृति ७।१८९ पर लिखा है कि "(राजा)[2] समस्त दिशाओं में सेनापति और बलाध्यक्ष को निविष्ट करे। जिधर से भय की आशंका हो उसी को प्राची दिशा बनावे"।

---

[1]यद्वेव दिश्या उपदधाति। छन्दांसि वै दिशो, गायत्री वै प्राचीदिक्, त्रिष्टुब्दक्षिणा जगती प्रतीच्यनुष्टुबुदीची पंक्तिरूर्ध्वा ॥शतपथ ८।३।२।१२

[2]सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्।
यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥ मनु ७।१८९

क्या यहां पर मनु को "आदित्यसंयोगात्" वाला लक्षण नहीं मालूम था। फिर इसे रद्दी की टोकरी में क्यों डाला ?

आश्वलायन श्रौतसूत्र १।१२ में यह लिखा है" बहिर्वेदि[1] करने के लिए जिस दिशा में ऋत्विज् लोग जावें वही वहां पर प्राची दिक् है। इस पर भाष्य करते हुए नारायण कहते हैं कि जहाँ पर वसतीवरी के ग्रहण आदि को करने के लिए जिस दिशा को अभिमुख करके ऋत्विज् लोग जाते हैं वहाँ पर उसी दिशा को प्राचीदिक् मानकर दक्षिण हो जाना चाहिए। "सैवतत्र" कहने से बैठने वालों के संमुख से हो प्राचीदिक् होवे[2]।" यहाँ पर इस प्रमाण से स्पष्टत: महर्षि की परिभाषा को स्वीकार कर लिया है। क्या अब भी कोई सन्देह की बात रह जाती है ? यहाँ इन ऊपर दिये गये वाक्यों के रचयिताओं को प्रथम पदक आविष्कार के लिए क्यों नहीं देना चाहिए। क्या इन्होंने वैशेषिक के "आदित्यसंयोगात्" लक्षण को नहीं समझा था ? क्या इससे वैशेषिक का दिग्लक्षण रद्दी को टोकरी में बहा देने के योग्य नहीं हो जाता है ?

ऊँट के दोनों तरफ दांत होते हैं—इसमें भी किसी अन्यथा कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है। राजस्थान जो ऊँटों के प्रयोग का विशेष स्थान है; वहाँ भी देख भाल की गई और परिणामस्वरूप यह सूचना मिली कि ऊँट को ऊपर और नीचे दोनों ही

---

[1]बहिर्वेदि यां दिशं व्रजेयु: सैव तत्र प्राची। आश्वलायन श्रौतसूत्र १।१२

[2]यत्र बहिर्वेदि वसतीवरीग्रहणादि कर्त्तुं यां दिशमभिमुखा ब्रजंति ऋत्विजस्तत्र तामेव दिशं प्राचीं कृत्वा दक्षिणतो भवेत्। सैव तत्रेति वचनात्तिष्ठतामभिमुखत एव प्राची भवेत्। नारायण वृत्ति आश्व० श्रौ० १।१२

ओर दांत[१] होते हैं। कई अन्य व्यक्तियों ने भी ऊंट रखने वालों से पूछा और पता चला कि ऊंट के ऊपर और नीचे दानों तरफ दांत होते[२] हैं। रही बात मनुस्मृति ५।१८ श्लोक की—वह प्रमाण कोटि का नहीं है। मनुस्मृति ५।४८-५२ श्लोकों में मांस खाने का निषेध किया गया है। ५१ वें श्लोक में अनुमन्ता, विशसिता, निहन्ता,[३] क्रयविक्रयी, संस्कर्त्ता, उपहर्त्ता और खाने वालों को पापी कहा गया है। ४९ वें श्लोक में कहा गया है कि मांस[४] की उत्पत्ति और देहधारियों के बध और बन्धन को देखकर मांस खाने से सदा दूर रहना चाहिए। पुनः ५।५५ में मनु ने मांस शब्द की माम्+स निरुक्ति करके भी मांस खाने का निषेध किया है। मनु कहते हैं कि "यहाँ पर मैं जिसका मांस खाता हूँ वह मुझ को परलोक में खावेगा—ऐसा मांस का निरुक्ति—से लभ्य मांसत्व विद्वान् जन[५] कहते हैं। जब मनु इस प्रकार मांस खाने का निषेध करते हैं तो फिर ५।१८ में ऊँट को छोड़कर शेष एक ओर दांत वालों को खाने का विधान किस प्रकार कर सकते हैं। यह तो परस्पर विरोध की बात हुई। अतः यह ५।१८ श्लोक मनु का

---

[१]श्री पं० भगवान् स्वरूप जी न्यायभूषण वैदिक यंत्रालय अजमेर का पत्र स्वामी श्री ध्रुवानन्दजी के नाम पर दिनांक १७।२।६२

[२]श्री पं० रघुनाथ प्रसाद जी पाठक दयानन्दभवन, नई देहली

[३]अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः। ५।५१

[४]समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्। प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्। ५।४९

[५]मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः। मनु० ५।५५।

नहीं है। यह किसी का मिलाया हुआ है। यह मिलान करने वाला भी ऐसा ही व्यक्ति रहा होगा; जिसको यह न ज्ञात होगा कि ऊँट के दोनों ओर दन्तपंक्तियाँ होती हैं।

श्रीयक्ता जी ने जो आविष्कार दिखलाये वे तो समाहित किये गये। परन्तु उन्होंने नीचे लिखे आविष्कारों को अपने ग्रन्थ में क्यों नहीं स्थान दिया? उन जैसा आविष्कारप्रिय व्यक्ति इन आविष्कारों को दृष्टि से ओझल कर दे—यह बड़े आश्चर्य को बात है। यक्ता जी को दृष्टि से रह गये आविष्कार यहाँ पर लिख दिये जाते हैं।

१—गणेश जी[1] की रचना (जिनका शरीर मनुष्य का और शिर हाथी का)

२—विष्णुका[2] वाजिशिर (घोड़े के शिर वाला) होना।

३—अश्विनी[3] कुमारों का घोड़ी की नाक से उत्पन्न होना।

---

[1]गणेश की रचना लोक मे प्रसिद्ध है।

[2]इति श्रुत्वा वचस्तेषां त्वष्टा चातित्वरोचित:।
वाजिशीर्षं चकर्ताशु खड्गेन सुरसन्निधौ ॥१०८॥
विष्णो: शरीरे तेनाशु योजितं वाजिमस्तकम्।
हयग्रीवो हरिर्जातो महामायाप्रसादत: ॥ १०९ देवीभागवत स्कन्ध १ अध्याय ५ श्लोक १०८, १०९।

[3]सा तं विवस्वत: शुक्रं नासाभ्यां समधारयत्।
देवौ तस्यामजायेतामश्विनौ भिषजां वरौ ॥५६॥ भविष्य पुराण ब्रह्मपर्व ७९ अध्याय श्लोक ५६ वेंकटेश्वर प्रेस सन् १९५९। शिव पुराण उमा संहिता ५, अध्याय ३५ में ३३ वां श्लोक भी यही कहता है—मुखतो नासिकायां तु शुक्रं तद्व्यदधान्मुने:। देवौ तत: प्रजायेतामश्विनौ भिषजां वरौ ॥

४—ब्रह्मा[1] के मानस पुत्रों की उत्पत्ति ।

५—कश्यप की [2] पत्नियों से सूर्य, वृक्ष आदि का उत्पन्न होना ।

६—मान्धाता[3] का पुरुष के पेट से उत्पन्न होना ।

---

[1] मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः ।
चेरुर्विहाय । लोकांल्लोकेषु विगतस्पृहाः ।।१२।श्रीमद्भागवत
३।१५।१२।

[2] अथकश्यपपत्नीनां यत्प्रसूतमिदं जगत् ।
अदितिदितिर्दनुः काष्ठा अरिष्टा सुरसा इला ।।२५।।
तिमेर्यादोगणा आसन् श्वापदाः सरमासुताः ।।२६।।
सुरभेर्महिषा गावो ये चान्ये द्विशफा नृप ।।२८।।
श्रीमद्भागवत स्कन्ध ८, अध्याय ७, श्लोक २५, २६, २८।

[3] राजा तद्यज्ञसदनं प्रविष्टो निशि तर्षितः ।
दृष्ट्वा शयानान् विप्रांस्तान् पपौ मंत्रजलं स्वयम् ।।२७।।
·········पप्रच्छुः कस्य कर्मेदं पीतं पुसंवनं जलम् ।।२८।।
ततः काले उपावृत्ते कुक्षिं निर्भिद्य दक्षिणम् ।
युवनाश्वस्य तनयश्चक्रवर्त्ती जजान ह ।।३०।।
कं धास्यति कुमारोऽयं स्तन्यं रोरूयते भृशम् ।
मां धाता वत्स मा रोदीरितींद्रो देशिनीमदात् ।।३१।।
श्रीमद्भागवत नवम स्कन्ध अध्याय ६ श्लोक २७, २८, ३० और ३१। मूल गुटका खेलाड़ी लाल संस्करण तथा यह देवी भागवत में भी है । श्यामकाशीप्रेस मथुरा छापा ।

७—इला[१] को प्रार्थना से सुद्युम्न बना देना, सब का[२]क लिङ्ग परिवर्तन हो जाना ।

८—किसो[२] (सुद्युम्न) का महीने भर पुरुष और महीने भर स्त्री रहना ।

———

[१]एवं व्यवसितो राजन् भगवान् सुमहायशाः ।
अस्तौषीदादिपुरुषमिलायाः पुंस्त्वकामया ॥२१॥
तस्मै कामवरं तुष्टं भगवान् हरिरीश्वरः ।
ददाविलाऽभवत्तेन सुद्युम्नः पुरुषर्षभः ॥२२॥
श्रीमद्भागवत ९।१।२१-२२ श्लोक ।
स कुमारो वनं मेरोरधस्तात् प्रविवेश ह ।
यत्रास्ते भगवान् रुद्रो रममाणः सहोमया ॥२५॥
तस्मिन् प्रविष्ट एवासौ सुद्युम्नः परवीरहा ।
अपश्यत् स्त्रियमात्मानमश्वं च वडवां नृप ॥२६॥
[१]तथा तदनुगाः सर्वे आत्मलिङ्गविपर्ययम् ।
दृष्ट्वा विमनसोऽभूवन् वीक्षमाणाः परस्परम् ॥२७॥
श्रीमद्भागवत ९।१।२५-२७ ।
[२]तुष्टस्तस्मै स भगवानृषये प्रियमावहन् ।
स्वां च वाचमृतां कुर्वन्निदमाह विशांपते ॥३८॥
मासं पुमान् स भविता मासं स्त्री तव गोत्रजः ।
इत्थं व्यवस्थया कामं सुद्युम्नोऽवतु मेदिनीम् ॥३९॥
श्रीमद्भागवत ९।१।३८-३९॥

प्रकीर्ण

दयानन्दरहस्य के लेखक ने "शास्त्र पारङ्गत दयानन्द"; "तार्किक शिरोमणि दयानन्द" ; 'दिग्विजयी दयानन्द'; 'स्वामी जी का सिद्धान्त परिवर्तन'; 'ईश्वरपरायण दयानन्द'; 'आर्ष-परम्पराभक्त दयानन्द';तन्त्रतत्त्वज्ञ दयानन्द और 'महान् सुधारक दयानन्द' आदि छोटे-छोटे शीर्षकों से महर्षि के सिद्धान्तों और व्यक्तित्व पर आक्षेप किये हैं। इनका इसी प्रकार पृथक् शीर्षक रखकर उत्तर देने में व्यर्थ का विस्तार बढ़ता है। अतः यहाँ पर उन शीर्षकों के आक्षेपों का उत्तर इस शीर्षक में दिया जाता है।

महर्षि की शास्त्रपारंङ्गता

दयानन्दरहस्य का लेखक २०३-२०४ पर लिखता है कि सत्यार्थ प्रकाश,नवें समुल्लास में विवेक, वैराग्य आदि साधनों के पीछे चार अनुबन्धों का प्रतिपादन करते हुये स्वामी जी ने लिखा है कि "यह चार साधन और चार अनुबन्ध अर्थात् साधनों के पश्चात् यह कार्य करने होते हैं" इस लेख से विदित है कि स्वामी जी चारों अनुबन्धों को कर्म समझते हैं। जब कि पूज्यपाद (शंकराचार्य) ने अनुबन्धचतुष्टय का सम्बन्ध श्रवण विधि से बतलाया है—इत्यादि।

परन्तु लेखक को यह भी तो समझना चाहिए था कि वह क्या कह रहा है। क्योंकि उसके पूज्यपाद जो ने भी तो अनुबन्ध

चतुष्टय का सम्बन्ध श्रवण विधि से ही माना है। क्या श्रवण-विधि कर्म नहीं है। यदि कर्म नहीं तो फिर यह क्या है ? आपकी सम्मति में द्रव्य, गुण अथवा सामान्य में से कोई अन्यतम तो नहीं है ? महर्षि यहाँ पर मोक्ष के साधनों का प्रतिपादन कर रहे हैं अतः, अनुबन्ध भी उसी की दृष्टि से होना चाहिए। श्री शंकर स्वामी का अनुबन्ध श्रवणविधि को दृष्टि में रखकर है। क्या यज्ञ और आयुर्वेदविज्ञान के वर्णन के समय भी यही अनुबन्ध रहेंगे। यदि आचार्य शंकर का यह लक्षण सार्वभौम लक्षण है तो वेदान्त सूत्र ३।३।५०[1] में आये अनुबन्ध का क्या अर्थ होगा। जिस प्रकार अधिकारी श्रवणविधि कर्म का अनुबन्ध हो सकता है वैसे ही विषयी मोक्ष के अनुबन्ध में आ सकता है। "प्रतिपादनविषय" पद से ही प्रतिपाद्य का भाव आ जाता है। चाहे "प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म" कहे और चाहे "प्रतिपादनविषय ब्रह्म" कहे—दोनों वाक्यों का भाव एक ही है। यह समस्त पद है अथवा व्यस्त पद है—इसका परिज्ञान नहीं—खण्डन करने चले महर्षि का—कितने उपहास का विषय है।

योगशास्त्र के विषयव्यूह जिस प्रकार हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय हैं, न्याय के प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति हैं—ऐसे ही विषयानुसार अनुबन्ध भी बदलते रहते हैं।

महर्षि ने वैराग्य का ही लक्षण किया है परन्तु यक्ता जी उसे विवेक का लक्षण समझ रहे हैं। इस समझ की जितनी प्रशंसा की जावे थोड़ी होगी। देखना तो चाहिए था कि पूर्वापर क्या है ? महर्षि लिखते है "दूसरा साधन—वैराग्य अर्थात् जो विवेक से सत्यासत्य को जाना हो उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्या-

[1] अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥३।३।५०

चरण का त्याग करना (रूप) विवेक है" इसका अर्थ यह हुआ कि "जो विवेक से सत्यासत्य को जाना है उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना रूप विवेक वैराग्य है।

तर्कशिरोमणि दयानन्द

श्री रामचन्द्र यत्ता कहते हैं अपनी पुस्तक के पृष्ठ २०६ पर लिखते हुए कि स्वामी जी की निम्न युक्तियाँ लालबुझक्कड़ की युक्तियाँ हैं—

१—संन्यासी को स्वर्ण देने से यजमान नरक को जावे तो चांदी, मोती, हीरा आदि देने से स्वर्ग को जायेगा।

२—जो हाथ में धन देने से दाता नरक को जाय तो पग पर धरने वा गठरी बांध कर देने से स्वर्ग को जायगा।

३—ग्वालियर में वैष्णवों के खण्डन में कहते हैं कि 'यदि एक खडी रेखा लगाने से स्वर्ग मिलता है तो सारा मुख काला कर लेने से स्वर्ग से आगे भी कोई स्थान मिलता होगा।

समाधान—

१—महर्षि की तर्कशक्ति देखनी है तो उनके सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थों में देखिये। कहीं से किसी एक छोटी बात को लेकर आक्षेप करना व्यर्थ है। "विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्" यह श्लोक महर्षि का अपना बनाया हुआ नहीं। यह मनुस्मृति ११।६ का श्लोक है; वर्तमान में इसमें पाठ भेद हो गया है। युक्ति भी लालबुझक्कड़ की युक्ति नहीं—विज्ञ और तार्किक की युक्ति हैं। यजमान का नरक में जाना रूप फल दानक्रिया मात्र के साथ सम्बन्ध रखता है अथवा स्वर्णदान की क्रिया के

साथ ? यदि दानक्रिया मात्र के साथ सम्बन्ध रखता है तो स्वर्ण-दान से ही नरक क्यों होगा—फिर तो भोजन आदि किसी वस्तु के दान से नरक होगा। ऐसी स्थिति में स्वर्णदान का फल नरक है अतः स्वर्ण नहीं देना चाहिए—यह कहना व्यर्थ होगा। यदि स्वर्णदान की क्रिया के साथ ही नरक का सम्बन्ध है तो फिर शेष के दान में दोष जावेगा नहीं। और फिर यह युक्ति ठीक ही है कि संन्यासी के स्वर्ण के दान से यजमान को नरक मिलेगा—हीरा, मोती आदि के दान से नरक न मिलने से स्वर्ग मिलने का बाध नहीं।

२—दूसरी युक्ति भी समुचित ही है। क्योंकि नरक की प्राप्ति में हेतु हाथ में धन देने को क्रिया को कहा जा रहा है। अतः जहाँ-जहाँ पर संन्यासी के हाथ में धन देना पाया जावेगा वहीं-वहीं पर फल में नरक प्राप्त होना भी पाया जावेगा। अन्यत्र क्रिया में नहीं। ऐसी स्थिति में गठरी बाँध कर देने अथवा पग पर रख देने में नरक की प्राप्ति होने का भय नहीं।

३—यह युक्ति भी गलत नहीं है। क्योंकि स्वर्ग प्राप्ति का कारण रेखा को बतलाया जाता है किसी अन्य साधन को नहीं। अतः प्रधानता रेखा की हुई। महर्षि को भक्तमाल वाली वह कथा भी स्मरण थी; जिसमें पक्षी के विष्ठा की रेखा बन जाने से विष्णु के दूत उसे लेने आये और यहाँ तक कि यमराज के दूतों से उन्हें लड़ना पड़ा। ऐसी अवस्था में यह ठीक ही है कि यदि एक रेखा से स्वर्ग मिल सकता है तो सारे मुँह को रेखा से काला कर लेने पर उससे अधिक फल मिलना ही चाहिए। हाँ! यदि किसी का तात्पर्य यह हो कि मुँह को रेखा से काला करने पर अधिक फल नहीं मिलता है तो फिर एक रेखा लगाने से स्वर्ग का भी फल उसी नियम से नहीं मिलेगा।

महर्षि की दिग्विजय पर आक्षेप

दिग्विजयी दयानन्द शीर्षक से दयानन्द रहस्य के लेखक ने पृष्ठ २०७ से २२१ तक जो आक्षेप किये हैं उनका संक्षेप में उत्तर दिया जाता है।

१—यह कहना कि महर्षि का अंग्रेजों से सम्बन्ध था; सत्य का गला घोंटना और इतिहासज्ञों की आंख में धूल झोंकना है। स्वराज्य का मूलमन्त्र सबसे पूर्व महर्षि ने ही दिया है। वे सत्यार्थ-प्रकाश के ११ वें समुल्लास में लिखते हैं "क्योंकि हम और आप को उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें" (सत्यार्थ प्रकाश ११ समुल्लास-ब्राह्म समाज के प्रसंग में)

"इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्त्ती सार्वभौम राजा आर्यकुल में ही हुये थे। अब इन के सन्तानों का अभाग्योदय होने से विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहे हैं।" (सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास शताब्दी संस्करण पृष्ठ ४०३ ग्रन्थमाला) अपने और पराये का पक्षपात-शून्य प्रजा पर माता पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी सुखदायक नहीं। स० प्रकाश ८ वां समुल्लास। महर्षि के सत्यार्थ प्रकाश के षष्ठ समुल्लास को देखने से भी उन की राष्ट्रीय भावना का पता चलता है। अब तो नई खोजों से यह पता भी चल रहा है कि सन् १८५७ में हुई राष्ट्रीय जागृति के नायक टाटिया टोपे के साथ महर्षि का सम्पर्क था। भारत सरकार स्वतंत्रता संग्राम का जो इतिहास लिखवा रही है; वह स्वयं प्रकट करेगा कि महर्षि का स्वराज्य के युद्ध में क्या योग-दान था।

२—हलधर के शास्त्रार्थ में दी गई कथित युक्ति "जब वेद में विधि नहीं है तो मूर्तिपूजा का निषेध ही समझना चाहिए"—का खण्डन करने में यक्ता का यह कथन सर्वथा अज्ञता का द्योतक है कि स्वामी जी के मान्य चारों वेदों में यज्ञोपवीत का विधान नहीं है अतः उसका निषेध ही समझना चाहिए। वेद में यज्ञोपवीत का विधान है। चूंकि यक्ता को वेद का ज्ञान नहीं है अतः उनका यह कथन है। ऋग्वेद ३।८।४ युवा सुवासाः परिवीत आगात्० मंत्र में परिवीत पद यज्ञोपवीत के लिए आया है। ऋग्वेद १०।५७।२ मंत्र—"यो यज्ञस्य प्रसाधनः तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतं नशीमहि।" भी यज्ञोपवीत का वर्णन करता है। यजुः १६।१७ में "नमो नमो हारिकेशायोपवीतिने०" मंत्र में भी "उपवीतिने" पद यज्ञोपवीत की ही सूचना दे रहा है।

(३) महर्षि हिन्दुओं को ईसाई बनवाने नहीं आये थे। उनका कार्य हिन्दुओं को ईसाई बनाने से बचाना था; जो आज तक दिवाकर के समान प्रकाशमान है। उन्हें हिन्दुओं को ईसाई बनाने के लिए नियत किया हुआ कर्मचारी कहना संसार की आँखों में धूल झोंकना और असत्य एवं घृणित भावना का प्रचार करना है। महर्षि का उत्तर सर्वथा ही ठीक है। न महर्षि ने कहीं पर अग्नि की पूजा करना लिखा है और न आर्यसमाज ही अग्नि की पूजा करता है। आप मनुस्मृति ३।७० के श्लोक का जो हवाला दे रहे हैं; वह भी यह नहीं बतलाता है कि होम अग्नि की पूजा है। उस में तो होम को देवयज्ञ कहा गया है। अग्निपूजा आपने अपने आप गढ़ ली। श्लोक निम्न प्रकार है—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥मनु० ३।७०

इसी प्रकार ३।८१ श्लोक में भी अग्नि की पूजा नहीं लिखी गई है।

(४) काशी शास्त्रार्थ में महर्षि ने पंडितों को पराजित किया था—संसार तो यही मानता है। यक्षा जी की उल्टी धारा का कोई भी प्रभाव नहीं हो सकता है। उनके बाल शास्त्री और विशुद्धानन्द तो इस प्रश्न का भी उत्तर नहीं दे पाये कि व्याकरण में 'कल्म' संज्ञा कहीं पर हुई है—अथवा नहीं। आज तक भी वह प्रश्न ज्यों का त्यों है। किसी भी पौराणिक पंडित ने इसका उत्तर नहीं दिया है। षडविंश ब्राह्मण के "दैवतप्रतिमा हसन्ति" आदि वाक्य पर जो बातें यक्षा जी ने लिखी हैं नितान्त असत्य हैं। महर्षि ने वैसा काशी शास्त्रार्थ में कहा ही नहीं है। महर्षि ने तो वहाँ स्पष्ट कहा था कि "प्रतिमा" शब्द सामवेद के ब्राह्मण में है। तथा "दैवत प्रतिमा" आदि प्रमाण दिया था। काशी शास्त्रार्थ में इसका पूरा विवरण दिया है। षड्विंश ब्राह्मण में यह वचन निम्न प्रकार है—

स परं दिवमन्वावर्त्ततेऽथ यदास्यायुक्तानि यानानि प्रवर्त्तन्ते देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति, रुदन्ति नृत्यन्ति, स्फुटन्ति, खिद्यन्ति, उन्मीलन्ति, निमीलन्ति प्रयान्ति नद्यः कबन्धमादित्ये दृश्यते० इत्यादि। सायण इसका अर्थ करते हुये लिखता है—अथ पुनर्यस्य पुरुषस्य यदा यानानि अयुक्तानि अयोग्यानि खरमहिषादीनि प्रवर्त्तन्ते स्वप्नावस्थायां तथा अगोचरे ता एव देवता उच्यन्ते युज्यन्ते तेष्वपि देवतायतनानि कम्पन्ते इत्यादि।

यहां मूल में "दिवम्" पद पड़ा है; जिससे द्यु लोक के निरीक्षण पर दिखायी पड़ने वाले उत्पात का वर्णन मालूम पडता है। सायण के भाष्य से ज्ञात हो रहा है कि यह स्वप्नावस्था का दृश्य

है। स्वप्न में जब ऐसे उत्पात दिखायी पड़ें तब "इदं विष्णुः" आदि मंत्र से यज्ञ करे। सायण यह भी कह रहा है कि खर-महिष आदि यान जो कि अयोग्य हो जाते हैं वे ही देवता कहे जाते हैं। इस दृष्टि से यहाँ "दैवत प्रतिमा" का अर्थ खर और महिष आदि होंगे। इससे पाषाण आदि मूर्तिपूजा की सिद्धि होती नहीं।

युक्ति और तर्क से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। यदि यक्ता जी अपनी मंदिरों में विराजमान विष्णु आदि की पाषाण आदि की बनी मूर्तियों में हँसना, रोना, नाचना आदि दिखा सकें तब ही मूर्ति-पूजा की बात करें। परन्तु ये कार्य इन मूर्तियों में कभी भी नहीं दिखलाये जा सकते हैं। यह देखते हुये और प्रत्यक्ष देखते हुये कि पाषाणादि की मूर्तियों में ये धर्म नहीं पाये जाते हैं—फिर भी मूर्तिपूजा करना दुराग्रह मात्र है।

"न तस्य प्रतिमास्ति" (यजुर्वेद २।३) वाक्य का यही अर्थ है कि उस परमेश्वर की कोई मूर्ति नहीं है। महर्षि ने वेदविरुद्धमत खण्डन में जो तोल अर्थ दिखलाया है वह भी तो यही बतलाता है कि परमेश्वर का कोई तोल एवं माप नहीं है कि वह घी, अन्न आदि की भाँति तोला जा सके। इस अर्थ से भी परमेश्वर की मूर्ति के होने का निषेध ही होता है। यदि यक्ता जी का परमेश्वर गुड़, घी आदि की भाँति तोला जा सकता हो तो बतावें। यदि वह तोला जाता है तो फिर परमेश्वर नहीं ठहरेगा।

"त्र्यम्बकं यजामहे" (यजुः ३।६०) मंत्र से भी मूर्तिपूजा का सिद्ध होना असम्भव है। यास्क वचन देकर 'यक्ता' ने यह सिद्ध किया है कि यास्क भी त्र्यम्बक पद से रुद्र ही अर्थ लेता है। प्रथम तो यक्ता जी को यह बात ही गलत है कि जब मुख्यार्थ का बाध होता है तब गौण अर्थ लिया जाता है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है और

उसके सभी शब्द यौगिक हैं अतः उसमें मुख्यार्थ का बाध होता ही नहीं। वेद में गौणी वृत्ति नहीं चलती है। साथ ही इतना भी समझ लेना चाहिए कि यह भाषाविज्ञान का नियम नहीं है। यह लौकिक व्याकरण का नियम है अथवा साहित्य और अर्थ-विज्ञान का नियम है। निरुक्त में जो "त्र्यम्बको रुद्रः" पद परि-शिष्ट १४।१४ पर लिखा गया है उससे भी यक्ता जी के त्रिनेत्र शिव का अर्थ नहीं निकलता है। यास्क के सिद्धान्त से रुद्र मध्यम-स्थानीय विद्युत् और अग्नि आदि भौतिक पदार्थ हैं। पौराणिक त्रिनेत्र रुद्र नहीं। निरुक्त-१०।६ पर यास्क कहता है[1] कि रुद्र वह है जो शब्द करता है अथवा गर्जता हुआ द्रवित होता है अथवा रुलाने से रुद्र कहा जाता है। यहां पर जो मंत्र यास्क ने दिया है वह भी मेघस्थ विद्युत् के अर्थ को बताता[2] है। यास्काचार्य के वचनों का अर्थ करते हुए दुर्गाचार्य[3] और स्कन्द स्वामी भी रुद्र का अर्थ यहाँ पर मेघस्थ विद्युत् ही लेते हैं। आगे चल कर यास्क १०।८ पर पुनः कहता है "अग्निरपि रुद्र उच्यते" अर्थात् अग्नि भी रुद्र कहा जाता है। इसके लिए यास्क ने ऋग्वेद १।२७।१० का हवाला दिया है। इस मंत्र में "स्तोमं रुद्राय दृशीकम्" पद पड़े हुए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में रुद्र के अनेक अर्थ दिये गये हैं। रुद्र के जितने नाम पौराणिक देते हैं वे नाम ब्राह्मण

---

[1] रुद्रो रौतीति सतः, रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा निरु १०।६

[2] इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवः० । ऋग्वेद ७।४६।१

[3] सहि स्तनयित्नुशब्द करोति, शब्दं कुर्वाणो मेघोदरस्थो द्रवतीति। "सहमानाय" इति बलकृतेः मध्यमः। दुर्गाचार्य निरु० १०।६

स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं करोति। अत्यर्थं वा शब्दं कुर्वन्मेघोदरस्थो द्रवति। स्कन्दस्वामी नि० १०।६

आदि ग्रन्थों में अग्नि के हैं। रुद्र, सर्व=शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महान्देव, और ईशान आदि अग्नि के नाम हैं और कुमार नववां नाम[1] है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि "त्र्यम्बक" यत्ता जी का माना हुआ त्रिनेत्र शिव नहीं है। सायण ने भी ऋग्वेद ७।५९।१२ पर इस त्र्यम्बकं यजामहे मंत्र की व्याख्या करते हुए एक और ही विचित्र लीला की है। उसने त्र्यम्बक का अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का पिता—किया है (त्रयाणां ब्रह्मा-विष्णुरुद्राणामम्बकं पितरम् यजामहे)। यत्ता जी तो त्र्यम्बक का अर्थ त्रिनेत्र रुद्र वा शिव कर रहे थे सायण ने उसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तीनों का ही पिता बना दिया। अस्तु। त्र्यम्बकं यजामहे मंत्र से मूर्तिपूजा किसी भी अवस्था में सिद्ध नहीं होती है।

एक विशेष बात यह है कि यत्ता जी किसी भी कार्य को सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं मानते हैं। ३५ वर्ष पूर्व ग्वालियर में ऐसी गाय उनके कथनानुसार हुई जो आग खाती थी। भला आग कोई खाने की वस्तु है और यदि कोई वस्तुतः आग खायेगा तो उसकी क्या स्थिति होगी वही जाने। इनको यह सिद्धान्त इसलिए मानना पड़ा होगा कि नहीं तो गणपति गणेश ही उड़ जावेंगे। क्योंकि पौराणिक उनका शिर हाथी का मानते हैं और धड़ मनुष्य का मानते हैं। इसी प्रकार विष्णु को वाजिशिर और अश्विनी कुमारों जैसे सुन्दरतम व्यक्तियों को घोड़ी की नाक से उत्पन्न हुआ लोग कहते हैं। वस्तुतः संसार में सृष्टिनियम के विरुद्ध कोई कार्य नहीं हो सकता है।

---

[1] तान्येतान्यष्टौ अग्निरूपाणि कुमारो नवमः। शतपथ ६।१।३।१८

क्या महर्षि ने अपना मत परिवर्तित किया ?

दयानन्दरहस्य के लेखक ने "स्वामी जी का सिद्धान्त परिवर्तन" शीर्षक से लिखा है कि स्वामी जी पहले ब्राह्मण को वेद मानते थे, पितृश्राद्ध मानते थे, माँसाहार मानते थे, मुक्ति से पुनरावर्त्तन नहीं मानते थे और जीवों को पुण्यों के फल के भोग में स्वतन्त्र और पापों के फल के भोग में परतन्त्र मानते थे। बाद में इन विचारों में परिवर्त्तन किया है। इसका बहुत स्पष्ट समाधान यह है कि महर्षि दयानन्द जब से आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द बने कोई भी ऐसा परिवर्तन सिद्धान्तों में किया नहीं। परिवर्तन की बात सर्वथा ही अतथ्य है। स्वामी जी आर्य समाज के प्रवर्तक आचार्य दयानन्द सरस्वती होने से पूर्व पौराणिक कुल में उत्पन्न हुए थे। बचपन में और जब तक गुरुवर विरजानन्द से शिक्षा पाकर दयानन्द नहीं हुये थे; पौराणिक विचारों के संस्कार भी रखते रहे होंगे। उसके आधार पर सिद्धान्त परिवर्तन की आपत्ति खड़ी ही नहीं की जा सकती है। यदि कोई इस प्रकार की बात करता भी है तो वह बिल्कुल ही महत्त्वहीन और थोथी है।

ईश्वरपरायणता पर आक्षेप

"ईश्वरपरायण दयानन्द" शीर्षक देकर दयानन्दरहस्य के लेखक ने यह लिखा है कि निराकार ईश्वरपरायण स्वामी जी ने ईश्वर को मूर्खत्वादि नीच गुणों का भी आकर बना डाला है।

यहाँ पर भी दयानन्दरहस्य के लेखक को भ्रम ही हो रहा है। महर्षि के वाक्य यजुर्वेद भाष्य और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

में निम्न प्रकार मिलते हैं—यहाँ दोनों ही स्थानों पर यजुर्वेद ३१।१०-११ मंत्रों की व्याख्या का प्रसंग है।

१० वें मंत्र की व्याख्या में यजुर्वेद भाष्य में—(पादौ) नीचस्थानीयम् (किमुच्यते)। ११ वें मंत्र के व्याख्यान में (पद्भ्याम्) सेवानिरभिमानाभ्याम् (शूद्रः) मूर्खत्वादिगुणविशिष्टो मनुष्यः (अजायत) जायते। भावार्थ में—ये च सेवायां साधवो विद्याहीनाः पादाविव मूर्खत्वादिनीचगुणयुक्तास्ते शूद्राः कार्या मन्तव्याश्च।

१० वें मंत्र पर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में—पादावर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्त्तते।

११ वें मंत्र पर—पद्भ्यां पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जड़बुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्त्तमानोऽजायत इति वेद्यम्।

यहाँ ऊपर प्रथम स्थल पर भाष्य के जो वचन हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि "पाद" शरीर में जिस प्रकार नीच स्थानीय है वैसा समाज में स्थान रखने वाला शूद्र है। शूद्र नीच है—यह इसका तात्पर्य नहीं। यहाँ पर मुख, बाहू, उरु के क्रम के अनुसार पाँव को नीचा कहा गया है। "पद्भ्याम्" अर्थात् सेवा और निरभिमान से मूर्खत्वादि गुणों से युक्त शूद्र पैदा होता है।

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के वाक्यों में भी कोई आपत्ति नहीं खड़ी होती है। यहाँ पर नीचत्व आदि गुण परमात्मा के नहीं हैं बल्कि शूद्र के हैं। यहाँ पर गुण पद ही यह बतला रहा है कि इसका तात्पर्य कुछ और ही है। इसके पूरे भाव का इस ११ वें मंत्र के भाष्य का ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका का वाक्य स्पष्टीकरण कर देता है। वहाँ पर लिखा है कि "यद्यस्मादेतं पूर्वोक्तलक्षणं पुरुषं परमेश्वरं कतिधा कियत्प्रकारैः (व्यकल्पयन्)तस्य सामर्थ्य-

गुणकल्पनं कुर्वन्तीत्यर्थः । अर्थात् पूर्वोक्तलक्षण पुरुष परमेश्वर के सामर्थ्यगुणकल्पना को कितने प्रकार से कल्पित करते हैं— "यह मंत्रार्थ में आगे स्पष्ट है । यहाँ सामर्थ्य का अर्थात् विराट् रूप में विद्यमान परमेश्वर के सामर्थ्य का अर्थ प्रकृति है । उस प्रकृति के मुख्य गुण से ब्राह्मण, बल वीर्य लक्षण गुणों से राजन्य, व्यापारादि के गुणों से वैश्य और सेवा तथा नीच जड़त्वादि गुणों से शूद्र उत्पन्न होते हैं । यहाँ पर परमेश्वर में नीच आदि गुणों का होना नहीं सिद्ध होता है । अतः महर्षि पर उक्त दोष लगाना व्यर्थ है । इन वाक्यों से परमात्मा के साकार होने की बात भी नहीं सिद्ध होती है । साकार मानने वालों के मत से तो "परमात्मा के मुख से ब्राह्मण पैदा हुए" का अर्थ कुछ और ही हो जावेगा । क्योंकि साकार मुख से ब्राह्मण तो नहीं—थूक ही पैदा होता है ।

"मनसापरिक्रमा" से भी मूर्त्तिपूजा नहीं सिद्ध होती है। क्योंकि मन से अपने चारों तरफ परिक्रमा की जाती है, परमेश्वर के चारों तरफ नहीं । इसका इतना ही आशय है कि उपासक यह समझे कि परमेश्वर उसके सब तरफ और अन्दर भी विद्यमान है ।

आर्याभिविनय में उत्तम पदार्थों को ईश्वर को खिलाने पिलाने की बात कहीं पर नहीं है । वहाँ पर "वायवायाहि— दर्शत इमे सोमा अरङ्कृताः" मंत्र पर पाहि क्रिया का भाव व्यक्त करने के लिए ब्राकेट में (सर्वात्मा से पान करो) सर्वात्मा से पान करो लिखा है । यहां पान का अर्थ पीना नहीं है। "पा" पीने अर्थ की धातु भी है और "पा" रक्षा अर्थ की भी धातु है । यहां पर "पान" शब्द पा रक्षणे धातु से निष्पन्न स्वीकार किया गया है। इसका अर्थ रक्षा करना है। सर्वात्मा से पान का अर्थ सर्वात्मा से रक्षा करना है।

क्या आर्षपरम्परा को महर्षि ने तोड़ा है ?

"आर्षपरम्पराभक्त दयानन्द" शीर्षक लेख से श्री यक्ता ने महर्षि को आर्षपरम्परा का तोड़ने वाला सिद्ध करने का प्रयत्न किया है;जो केवल व्यर्थ का साहस मात्र है। ऋषि ने यह लिखा है कि यदि प्राचीन ऋषि मुनियों के ग्रन्थों में भी कोई बात वेदों के अनुकूल न हो तो वह माननीय नहीं है। इसका हवाला देकर यक्ता जी महर्षि को आर्षपरम्परा का मटियामेट करने वाला बतलाते हैं। परन्तु यह आर्षपरम्परा को मटियामेट करने वाला नहीं है। क्या आर्षपरम्परा का भक्त होना यह बतलाता है कि अण्ड-बण्ड जो भी बात ऋषि मुनियों के नाम से कह दी जावे वह सब मान ली जावे। पाषाण आदि मूर्त्तिपूजा और मृतपितरों का श्राद्ध किसी भी वैदिक ऋषि ने नहीं माना है। यह सिद्धान्त वेद के सर्वथा विरुद्ध है—अतः इस पर अश्रद्धा करना आर्षपरम्परा को तोड़ना नहीं है। श्री भीष्म जी को अपने पूर्व जन्मों का स्मरण होना आर्षपरम्परा है—यह कथन मात्र से नहीं सिद्ध होगा। प्रमाण देना चाहिए। भीष्म ऋषि नहीं थे। पुनर्जन्म की बातों के स्मरण के विषय में ९वें समुल्लास में जो कुछ ऋषि ने लिखा है वह इस प्रकार है—

जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्तमान को जानना चाहे तो भी नहीं जान सकता क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है। यह बात ईश्वर के जानने योग्य है जीव के नहीं सत्यार्थ प्रकाश नवाँ समुल्लास। यहाँ पर "पूर्व और पीछे जन्म के वर्तमान" को न जानने की बात कही गई है। जीव अल्पज्ञ है अतः उसके जानने योग्य यह बात नहीं। यह ईश्वर के जानने योग्य है। जब जीव ईश्वर की कृपा से अपने अल्पपने को दूर कर उसके सामीप्य में

आकर तत्सदृश (तदेव नहीं) हो जाता है तब जान सकता है। यह भाव स्वयं उपर्युक्त पदों से स्पष्ट है।

क्या महर्षि तन्त्रों को नहीं जानते थे ?

दयानन्दरहस्य पुस्तक के लेखक ने "तन्त्रतत्वज्ञ दयानन्द" शीर्षक से ऐसा प्रतिपादन किया है कि महर्षि को तन्त्र का परिज्ञान नहीं था। परन्तु उसको मालूम होना चाहिए कि महर्षि ने तन्त्रों का खंडन किया है क्योंकि इनमें अनर्गल बातें भरी पड़ी हैं। यक्ता जी का कहना है कि यह गुप्त विद्या है—अतः गुप्त रखी जाती है परन्तु यह गुप्त विद्या है अथवा अविद्या है; इसका भी निर्णय करना होगा। यक्ता ने इस शीर्षक में वाममार्ग को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

मद्य; मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन—इन पंच मकारों को सिद्ध करने का विफल प्रयत्न करते हुये यक्ता जी यह लिखते हैं कि वाममार्ग का साधक ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्र दल कमल से टपकने वाली मद्य पीता है—साधारण मद्य नहीं। इसी प्रकार अन्य मकारों के विषय में भी कुछ न कुछ लिखने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह वाममार्ग को अभिप्रेत है—यह वही जाने। वाममार्ग का अर्थ भो उल्टा मार्ग लोक में लिया जाता है। यक्ता जी सहस्रकमलदल से टपकने वाले मद्य का वर्णन तो कर रहे हैं परन्तु तन्त्रानुसार उस अवस्था में पहुंचने का साधन भी तो लिखना चाहिए था। मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु। लिङ्गं योन्यां तु संस्थाप्य जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः। इसका भी तो अर्थ करना चाहिए था। क्या सहस्र कमल दल से मद्य इसी विधि से टपकता है। यदि आपकी व्याख्या सत्य है और तंत्रों में ऐसी

ज्ञानमयी बातें भरी हैं तो फिर यह भी बताना पड़ेगा कि नीचे लिखे तन्त्र वाक्य में कौन-सा आध्यात्मिक और योगसम्बन्धी रहस्य भरा है—

रजस्वला पुष्करं तीर्थं चाण्डाली तु स्वयं काशी चर्मकारो प्रयागः स्याद्रजकी मथुरा मता। अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता। रुद्रयामलतंत्र ।। यहां सभी तीर्थों की कैसी सुन्दर स्थिति इस तंत्र में दिखला दी गयी है।

विशेषता तो यह है कि तन्त्र शास्त्र के आधार पर जिन बातों की सिद्धि यक्ता जी कर रहे हैं; उनका योगविद्या के शास्त्र योग दर्शन में नाम भी नहीं मिलता है।

महर्षि के सुधारकार्य संसार में सूर्यवत् प्रकाशमान हैं। इस विषय में उल्टी बातें लिखकर यक्ता जी ने व्यर्थ कागज और स्याही को खराब किया है और यह कार्य संसार की आंख में सीधा धूल झोंकने का हो है। महर्षि ने अछूतों को अछूत और नीच नहीं माना है बल्कि उन्हें ऊंचा उठाया है। "यथेमां वाचं कल्याणीम्" मंत्र की व्याख्या में भी कोई ऐसी बात महर्षि ने नहीं लिखी है; जिससे परमात्मा के भृत्य और स्त्री आदि होने की सिद्धि होती है। वहाँ पर तो "स्वाय" पद की व्याख्या की है। वहाँ "स्वाय" से मनुष्यों के भृत्य स्त्री आदि का ग्रहण है परमात्मा के स्त्री भृत्य आदि का नहीं। वर्णव्यवस्था में भी जो सुधार महर्षि ने किया उसका प्रभाव सबके समक्ष विद्यमान है। उनकी शिक्षाओं का क्या प्रभाव पड़ा यह सभी धर्म वाले जानते हैं। महर्षि के विषय में लोगों की क्या सम्मतियाँ हैं और महात्मा

गान्धी जी आदि उनके विषय में क्या कहते हैं—इस पर पुस्तकें छप गई हैं। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा से पुस्तकों को मंगाकर देखा जा सकता है। (Dayanand commemoration) ग्रन्थ जो सम्मतियों से भरा पड़ा है परोपकारिणी सभा अजमेर से मंगाकर देखा जा सकता है। विस्तार बढ़ जाने के कारण यहाँ पर सम्मतियाँ नहीं लिखी जा रही हैं।

———

भगवान् दयानन्द

भारत जैसे जगद्गुरुओं के देश की पवित्र भूमि के एक अति प्रसिद्ध वीरों के प्रान्त सौराष्ट्र में जन्म लेकर समस्त वसुन्धरा को अपने कार्यकलापों और ज्ञानोपदेशों से सदा के लिए कृतज्ञ बनाने वाले महर्षि वेदद्रष्टा, अनुपम योगी, महातपस्वी, संन्यासी, परमहंस, युगद्रष्टा भगवान् दयानन्द के जीवन की झाँकी कराने में भी एक विस्तृत ग्रन्थ तैयार हो सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में न इतना विस्तृत वर्णन किया जा सकता है और न मैं अपने को इस कार्य के लिए इतना योग्यतम और शक्तिशाली ही पाता हूँ कि ऐसे महामानव, प्रातःस्मरणीय युगप्रवर्तक के चरित्र का पूर्णतया वर्णन कर सकूँ। अतः संक्षेप में ही यहाँ पर कुछ लिखकर उनके सिद्धान्तों सम्बंधी आक्षेपों पर ही अधिक ऊहापोहपूर्ण विचार किया है। जिसके जीवन से सम्बद्ध घटनाओं के वर्णन में विदेशी और देशीय भाषाओं में अनेक महान् ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिसके प्राप्त पत्र-व्यवहारों से ही एक बृहद् पुस्तक तैयार हो गयी है, जिसके विषय में देश और विदेश के गण्यमान नेताओं, विद्वानों और मनीषियों, तथा भद्र पुरुषों तथा पत्र पत्रिकाओं द्वारा अर्पित सम्मतियों, श्रद्धांजलियों और विचारों के संग्रह से एक विशद पोथी बन गई और प्रकाशित है, उसके जीवन के विषय में यदि मैं यहां पर विस्तृत वर्णन नहीं करता हूँ तो पाठक इसमें किसी प्रकार की न्यूनता का अनुभव न करेंगे, ऐसी मुझे आशा है। भविष्य की खोज बतलावेगी कि महर्षि दयानन्द क्या थे।

वस्तुत: जिसने वर्तमान चाकचक्य के युग में होकर भी आजीवन निष्कण्टक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया; विद्या, वाक्पाटव, तर्कवैचिती, शास्त्रदर्शिता में जिसका नाम अग्रगण्य आचार्यों में मुख्य स्थान रखने योग्य है; वेदनिष्ठा, वेदव्याख्या, वेदज्ञान के गाम्भीर्य,साक्षात्कृत धर्मता आदि में जो महर्षियों में गण्यमान और भगवान् जैमिनि के परवर्ती आसन पर आरूढ़ होने के सर्वथा योग्य हैं; जो एक महान् एवं आदर्श सुधारक, मृतप्राय आर्यजाति को संजीवनी बूटी देकर जिलाने वाले और सभी जागृति के क्षेत्रों में जागृति उत्पन्न करने वाले थे—ऐसे महर्षि दयानन्द के चरित्र पर यदि कोई आक्षेप करता है तो उसकी क्या स्थिति होगी—स्वयं समझें।

गाजियाबाद निवासी श्री रामचन्द्रयक्ता ने महर्षि के जीवन से सम्बद्ध कुछ बातों को लेकर उल्टे और असंगत आक्षेप किये हैं उनका यहाँ पर संक्षेप में समाधान करना अभिप्रेत है।

जन्मभूमि, नाम आदि

यह सुनिश्चित है कि काठियावाड़ प्रान्त में मोरवी राज्य के टंकारा नामक ग्राम में श्री अम्बाशंकर नाम के एक औदीच्य ब्राह्मण रहते थे। १८८१ विक्रमी के षौष मास में उनके यहाँ एक बालक ने जन्म लिया। बालक का नाम मूल शंकर था। संन्यास लेने पर मूल शंकर का नाम दयानन्द हुआ। वेद-वेदाङ्ग आदि की शिक्षा प्राप्त कर और अपने को विविध विघ्न वाधाओं का सामना करते हुये तपस्या से तपाकर दयानन्द ही आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती के नाम से संसार में विख्यात हुये।

दयानन्द रहस्य के लेखक ने अपनी पुस्तक के ३२ पृष्ठ से

लेकर ३३ पर्यन्त महर्षि के जीवन चरित्र सम्बन्धी बातों पर विचार किया है। उसने पृष्ठ ३९ पर दिल्ली नगर के निवासी लाला कुँवर दयाल जी के लेख और "दयानन्दछलकपटदर्पण" पुस्तक के लेखक जैनी जियालाल के उल्लेख से महर्षि दयानन्द को नाचने गाने की जीविका वाली कापड़ी जाति का बतलाया है। यद्यपि इस लेखक का सारा तर्क इस पक्ष को सिद्ध करने का ही है—फिर भी वह बचने के लिए पृष्ठ ५६ पर यह भी कह देता है कि जियालाल का समर्थन उसका उद्देश्य नहीं है। शब्द इस प्रकार हैं "जियालाल जी के निर्णयों का समर्थन हमारा उद्देश्य नहीं है और उनके निर्णयों को चाहे वह नितान्त सत्य ही हों, हम कोई महत्व देना भी नहीं चाहते इत्यादि"। यहाँ पर लेखक की दोहरी चाल है। वह जियालाल जी की बात को नितान्त सत्य भी समझता है और उसके स्वीकार करने के उद्देश्य से दूर भी हटना चाहता है। क्या सचमुच कोई सत्य का खोजी ऐसा करना चाहेगा ? क्या यही सत्य की खोज है ?

महर्षि जी का जन्म कापड़ी जाति में हुआ—यह कथन तो लेखक के अपने वचन से ही कट जाता है। वह पृष्ठ ८९ पर किसी न किसी रूप में यह तो मान ही लेता है कि स्वामी जी के निजवर्णित जीवन से यह ज्ञात होता है कि उन्हें १४ वर्ष की उम्र में यजुर्वेदसंहिता और कुछ दूसरे मंत्र कंठस्थ थे। घर में वेदपाठ की परंपरा थी—यह महर्षि के कथन और जीवन चरित्रों से भी सिद्ध है। फिर प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि क्या ब्राह्मणेतर को वेदाध्ययन का अधिकार न देने वाले सनातनधर्म के यौवनकाल में कापड़ी लोगों को वेदाध्ययन का अधिकार था ! अधिकार ही नहीं वेद के कण्ठस्थीकरण की परम्परा भी उनके

घरों में थी। वेद श्रवण करने पर शूद्र के कान में शीशा पिघलाकर डालने और पढ़ने पर जिह्वा काटने की व्यवस्था देने वाले क्या इसको दर्शक बनकर देखते रहे ?। इन प्रश्नों का कोई युक्तियुक्त उत्तर दयानन्दरहस्य के लेखक के पास नहीं है। अतः यह भी सिद्ध है कि महर्षि ब्राह्मणकुल में ही उत्पन्न हुये थे।

क्या सभी जीवन-चरित्र अप्रमाणिक हैं ?

यक्ता का यह साहस करना कि महर्षि के सारे जीवन-चरित्र अप्रामाणिक हैं—एक महान् दुःसाहस मात्र है। वह दयानन्द रहस्य के पृष्ठ ६ पर लिखते हैं कि लेखराम पुलिस विभाग के थे और पुलिस सत्य को असत्य बनाने में भी प्रसिद्धतम हैं अतः यह लेखराम जी का जीवन-चरित्र मान्य नहीं हो सकता है। पुनः पृष्ठ १३ पर देवेन्द्रनाथ द्वारा लिखित जीवन-चरित्र को औपन्यासिक कहकर उसे भी अप्रामाणिक ठहराया है। परन्तु यहाँ पर उसी प्रकार यह भी तो सिद्ध है कि 'यक्ता' जी को महर्षि के जीवन-चरित्र पर लिखी गई सारी बातें असत्य हैं। क्योंकि उन्होंने उन्हीं जीवन-चरित्रों को बात को ही लेकर आक्षेप किये हैं। उनके पास इसके अतिरिक्त कोई नई खोज है—ऐसा वे बतला सकेंगे ?। यदि लेखराम जी के पुलिस-विभागीय होने और देवेन्द्रनाथ जी के औपन्यासिक वर्णनकर्त्ता होने और निजकथित जीवन-चरित्र पर कहीं-कहीं पर नाम मात्र का विरोध होने से—ये सभी जीवन चरित्र अप्रामाणिक हैं तो यक्ता जी के लेख में तो सत्य की खोज का भी अभाव है, क्योंकि महान् पुरुष पर आक्षेप करके आगे आने की भावना उसमें निहित है, परस्पर विरोध भी है और वर्णन में भी औपन्यासिकता है तथा अतथ्यता भी है—अतः वह स्वयं अप्रामाणिक हैं।

सिद्धान्तों पर जितना बनता—यक्ता जी आक्षेप करते और उसका उत्तर लेते। परन्तु जीवन-चरित्र और विशेषकर जन्म और कुल आदि की बात छेड़ कर उस पर आक्षेप करना अत्यन्त ही अनुचित और अप्रासङ्गिक है। यक्ता के अत्यन्त श्रद्धेय एवं प्रातः स्मरणीय श्री शंकराचार्य के भी जन्म के विषय में मत भेद हैं। आनन्दगिरि[1] का कहना है कि शंकर का उदय चिदम्बरम् के क्षेत्र देवता भगवान् महादेव के परम अनुग्रह का सुखद परिणाम था। पुत्र न होने से जब शिवगुरु ने घर गृहस्थी से नाता तोड़ कर जंगल का रास्ता लिया तब विशिष्टा देवी ने महादेव की आराधना को अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य बनाया। मणिमंजरी के अनुसार शंकर एक दरिद्र विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे। यहाँ वर्णन में कम औपन्यासिकता भी नहीं है। परन्तु क्या इस आधार पर ही शंकर के जीवन और सिद्धान्तों पर आक्षेप करना समुचित हो सकता है। भविष्य पुराण के अनुसार शंकराचार्य जी के पिता का नाम भैरवदत्त[2] है।

साथ ही अपने को सनातन धर्मी कहने वाले भाई तो वेद की शाखाओं को भी वेद मानते हैं। श्री यक्ता जी ने इस पक्ष के

---

[1]देखें शंकर दिग्विजय की श्री बलदेव उपाध्याय लिखित भूमिका पृष्ठ १३। यह पुस्तक श्री उपाध्याय जी के ही अनुवाद के साथ श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर हरद्वार से २००० सम्वत् में प्रकाशित हुई है।

[2]विप्रभैरवदत्तस्य गेहं गत्वा स वै शिवः।
तत्पुत्रोऽभूत् कलौ घोरे शंकरो नाम विश्रुतः॥
भविष्य पुराण प्रतिसर्ग पर्व १० म अध्याय में शंकराचार्य समुत्पत्ति वर्णन।

समथन में अपनी सारी शक्ति लगा दी फिर भी सिद्ध न कर सके। इन शाखाओं[1] (मैत्रायणी और काठक) में यह स्पष्ट लिखा गया है कि ब्राह्मण के माता पिता के विषय में नहीं पूछना चाहिए क्योंकि इस विषय में शास्त्र को ही विचारना चाहिए और वही उसका (ब्राह्मण) का पिता और पितामह है। यहाँ पर यक्ता जी ने ऐसी बात छेड़ कर क्या अपने वेद और सनातन धर्म—दोनों के विरुद्ध कार्य नहीं किया ?। इसके अतिरिक्त यदि कोई अपने जीवन का वृत्तान्त लिखता है—तो क्या तीन या दो पीढ़ी ही तक पिता का नाम सीमित रहेगा। उसके पूर्व की पीढ़ियों और उसके भी पूर्व की पीढ़ियों के विषय में भी प्रश्न उठाया जा सकता है। सभी वर्णों के गोत्रों के जो ऋषि हैं उनके माता पिता और कुल का भी जीवनवृत्तान्त नहीं मिलता है। मिलता भी यदि है तो अण्ड बण्ड। अतः सिद्धान्त का विचार करते समय यह जीवन, जन्म स्थान आदि अविचारणीय वस्तुयें हैं।

पूर्णयोगी महर्षि दयानन्द

दयानन्द रहस्य के लेखक ने 'पूर्णयोगी दयानन्द शीर्षक' से पृष्ठ ७३-८९ तक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि महर्षि दयानन्द योगी नहीं थे। इसका भी समाधान यहाँ पर किया जाता है। पृष्ठ ७४ पर लिखा गया है कि ११ वर्ष तक महर्षि ने जो कुछ योग की क्रिया सीखी वह हठयोग की थी और इसके प्रमाण में शव फाड़ने वाली घटना का उद्धरण दिया गया है। परन्तु यह ज्ञात होना चाहिए कि महर्षि एक पूर्णयोगी थे। इस

---

[1] किं ब्राह्मणस्य पितरं किं पृच्छसि मातरम्।
श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः॥
काठक ३०।१।२ मैत्रायणी—४।८।२

विषय में प्रचुर प्रमाण उनके जीवन आदि से दिया जा सकता है। महर्षि ने गुरुवर विरजानन्द से शिक्षा प्राप्त करने के पूर्व ही ११, १२ वर्ष तक योग को खोज में विविध स्थानों की यात्रा की और योगी महात्माओं से योग शिक्षा प्राप्त की। उनकी चणोद को यात्रा में स्वामी शिवानन्द गिरि और ज्वालानन्द पुरी से भेंट हुई। ये दोनों महानुभाव योगी थे। इन्होंने जहाँ बहुत सी बातें योग की बताईं वहाँ यह भी किया कि जाते समय महर्षि को यह कह गये कि वे अहमदाबाद दुग्धेश्वर मंदिर में उन्हें मिलें और वे योग विद्या के रहस्य और चरम प्रणाली के विषय में वहाँ पर शिक्षा देंगे। महर्षि ने ऐसा ही किया और वहाँ पर उन दोनों योगियों ने अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया। देवेन्द्रनाथ कृतजीवन चरित्र के पृष्ठ ३९ पर यह लिखा है कि "इस सम्बन्ध में स्वामी जी स्वयं लिखते हैं (निज कथित जीवन चरित्र में) कि योग विद्या की जो कुछ भी क्रियागत शिक्षा थी वह मैंने इन्हीं दोनों साधुओं से पाई है और मैं इनके कृतज्ञता-पाश में बद्ध रहा हूँ।" इसके अतिरिक्त योग विद्या की शिक्षा प्राप्त करते हुए और उसे क्रियात्मक रूप देते हुए भी अन्य ग्रन्थों का अध्ययन वे करते रहते थे। (देखें बड़ा जीवनचरित्र पृष्ठ ५७)।

नौलखाबाद के समीप एक बृहत् सरोवर के तीर पर गोवर्धन पर्वत है। महर्षि उस तीर से पर्वत पर जाया करते थे। एक दिन सहजानन्द ने देखा कि महर्षि पद्मासन लगाये जल पर ध्यानावस्थित[1] हैं। सहजानन्द वह व्यक्ति हैं जिन्होंने महर्षि से नियमपूर्वक संन्यास लिया था।

---

[1]देवेन्द्र कृत जीवन चरित्र पृष्ठ ६७६।

वहाँ पर यह भो लिखा है कि कभी महर्षि लम्बो समाधि भो लगाया[1] करते थ। जब ऐसा करते थ तब एक दिन पूर्व सबसे कह दिया करते थ कि कल हमारो काठरा के पास कोई नहों आये और न कोई द्वार खटखटाये। परन्तु सहजानन्द खिड़का से महर्षि को योगारूढ अवस्था में देख भो लिया करते थ। महर्षि को उन पर अनुकम्पा भा था और सहजानन्द महर्षि का याग-क्रिया से प्रभावित भो बहुत थे।

महर्षि के निज कथित जीवन चरित्र से भी उनके पूर्णयोगी होने की बात पर प्रकाश पड़ता है।

श्रा यक्ता ने यह आक्षेप किया है कि महर्षि के जीवन चरित्र में दानापुर और जोधपुर में रहते हुए उनकी जिस दिनचर्या का वर्णन है; उससे इनका योगी होना सिद्ध नहीं होता है क्योंकि उनमें इस कार्य के लिए कोई समय नहीं दिखाया गया है। परन्तु पाठकों को यह ज्ञात होना चाहिए कि यक्ता जी का यह कथन भी कोई महत्त्व नहीं रखता है। यहाँ पर भी यक्ता जी का कथन तथ्यभूत नहां है। यहाँ पर भी जो दिनचर्या वर्णित है उसमें प्रातः और रात्रि के समय की चर्या यह बतला देती है कि महर्षि योगाभ्यास आदि किया करते थे। प्रातःकाल बहुत सवेरे उठते थे परन्तु कब उठते थे यह कोई नहीं जानता[2]। रात्रि के दश बजे के पश्चात् किसी को अपने पास न रहने देते थे। इससे प्रकट है कि इन्हीं समयों में वे ध्यान-चिन्तन आदि कार्य कर लिया करते थे।

---

[1] देवेन्द्र कृत जीवन चरित्र पृष्ठ ६७६।

[2] देवेन्द्रनाथ कृत बड़ा जीवन चरित्र पृष्ठ ५९०।

दूसरी दिनचर्या जोधपुर की मिलती है। उसमें तो स्पष्ट ध्यान का समय लिखा ही है। जंगल में शौच से निवृत्त होकर किसी वृक्ष के नीचे बैठकर आध घण्टे के लगभग ध्यानावस्थित हो जाते थे[1]।

श्री यक्ता का यह कहना कि आम खाना योग में बाधक है—यह भी अनर्गल है। इसी प्रकार रात्रि में दूध पीना भी योग में बाधक नहीं सिद्ध होता है। यदि ऐसी बात है तो कोई प्रमाण प्रस्तुत करना चाहिए था।

अब आन्तरिक साक्षी के सहारे पर भी थोड़ा सा विचार इस विषय पर किया जाता है। मुण्डकोपनिषद्[2] और गीता का यह सिद्धान्त है कि अन्त समय में मनुष्य की जो भावना हुआ करती है उसी के अनुसार उसके अगले जीवन एवं मोक्ष आदि का प्राप्ति होती है। मनुष्य अपने पूर्व जीवन में जैसे कार्य और आचार व्यवहार करता है अन्त में उसी के संस्कार जागृत होते हैं और वैसा ही वह उस समय स्मरण करता है। वेद[3] में भी कहा गया है मनुष्य ओम् का स्मरण करता हुआ संसार से विदा होवे। परन्तु यह सर्वोत्तम जीवन वाले उच्च महात्माओं के लिए ही सम्भव पाया जाता है। श्री कृष्ण का भी प्रश्न यही था आङ्गिरस घोर से कि अन्त में किस चीज को स्मरण करता हुआ मनुष्य जीवन को छोड़े। आङ्गिरस घोर ने अक्षितमसि, अच्युतमसि,

[1]देवेन्द्रनाथ कृत बड़ा जीवन चरित्र पृष्ठ ६९८।

[2]यं यं लोकं मनसा संविभाति० ॥ मुण्डक ३।१।१० यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्० ॥ गीता ८।६

[3]ओंक्रतोस्मर। यजुः ४०।१५

प्राणसंशितमसि—इन तीन[1] वाक्यों का उपदेश किया। महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन की यह अत्यन्त प्रसिद्ध घटना है कि मृत्यु के आसन्न होने पर उन्होंने वेद मंत्रों का पाठ किया, ईश्वरोपासना की, गायत्री मंत्र का पाठ किया, कुछ देर तक समाधिस्थ होकर आँखें खोल दीं और बोल पड़े—हे दयामय ! सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! तेरी यही इच्छा है, तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण, आहा ! तूने अच्छी लीला की। यह घटना ही बतलाती है कि वे पूर्ण योगी थे, महात्मा थे, तपस्वी थे और थे भगवान् के अनन्यभक्त और विश्वासी।

वक्ता जी का यह कहना कि शव को चीर कर परीक्षा करने की घटना भी यही सिद्ध करती है कि उनको केवल हठ योग का ही ज्ञान था—सर्वथा ही निराधार है। निजकथित जीवन चरित्र में इस घटना का उपसंहार करते हुए इस प्रकार के शब्द लिखे गये हैं—"उसी समय से शनैः शनैः मैं यह परिणाम निकालता गया कि वेदों, उपनिषदों, पातञ्जल और सांख्य शास्त्र के अतिरिक्त अन्य समस्त पुस्तकें जो विज्ञान और योगविद्या पर लिखी गई हैं मिथ्या और अशुद्ध हैं।" इस कथन से यह सुतरां सिद्ध है कि महर्षि ने हठयोग और पातंजल योग दोनों की प्रक्रियाओं को जाना था और पालन किया। परन्तु इस शव के परीक्षण से हठयोग झूठा सिद्ध हुआ और पातंजल योग सत्य एवं प्रामाणिक सिद्ध हुआ।

---

[1] तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचा—
पिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येता—
क्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि—छान्दोग्य ३।१६।६

महर्षि के विस्तृत जीवन चरित्र को पढ़ने के बाद यह कहने को स्थान ही नहीं रह जाता है कि उन्होंने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि—योगाङ्गों का पालन नहीं किया है। उदयपुर में धन का महान् प्रलोभन मिलने पर भी उसे ठुकरा देना, स्वयं घर की संपत्ति भी छोड़ना और अपने प्राणघातक को भी दण्ड न देने देना और मुक्त कर देना आदि क्या यमों के प्रभाव का फल नहीं था।

प्राणायाम का योग में एक उच्च स्थान है—इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यह कहना कि यही योग का प्रमाण है—सर्वथा योग शास्त्र और उसकी प्रक्रिया की अनभिज्ञता का प्रकाश करना है। सत्यार्थ प्रकाश और ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका में प्राणायाम के जो अर्थ महर्षि ने किये हैं; उनमें परस्पर कोई भेद नहीं है। भेद आक्षेप करने वाले की समझ का है। महर्षि ने देश, काल और संख्या को आवृत नहीं किया है। वहाँ पर ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका में संस्कृत में स्पष्ट उसका वर्णन है। व्यास भाष्य का भी यही भाव है। 'जब भीतर से बाहर को श्वास निकले तब उसको बाहर ही रोक दे.............जब बाहर से श्वास भीतर को आवे तब उसको जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे...... किन्तु जितनी देर सुख से हो सके उसको जहाँ का तहाँ ज्यों का त्यों एक दम रोक दे।'' क्या इन शब्दों में देश काल और संख्या आदि का समावेश नहीं हो जाता है। क्या व्याख्या करने का यह तात्पर्य है कि उन्हीं शब्दों में सूत्र को रख दिया जावे। चतुर्थ प्राणायाम में किसी प्रकार का भेद नहीं पाया जाता है। एक में प्रकार का संक्षेप है और दूसरे में रोकने का प्रकार भी विस्तृत बतला दिया है। यहाँ पर योग सूत्रों की व्याख्या का प्रसंग है।

लक्षण शब्द का प्रयोग करना कहाँ तक संगत है—यह यक्ता जी ही समझें। लक्षण में जो दोष हुआ करते हैं वे यहाँ पर पाये भी नहीं जाते हैं। यक्ता जी को बतलाना चाहिए था कि कौन-सा दोष इस लक्षण में पाया जाता है। श्वास की स्वाभाविक गति को रोक कर धीरे-धीरे श्वास को भीतर भरना पूरक और धीरे-धीरे प्रश्वास को बाहर निकालना रेचक प्राणायाम है—ये यक्ता जी के लक्षण दुष्ट हैं और इन में योगदर्शन और व्यास भाष्य में दिये गये लक्षण से विपरीतता है। क्योंकि मूल सूत्र में 'गति-विच्छेद' और भाष्य में "गतिविच्छेद उभयाभावः" पद पड़े हैं। 'स्वाभाविक गति को रोक कर' शब्दों के लिये भी सूत्र में कोई पद नहीं है। भोज वृत्ति में भी लिखा है कि "तयोस्त्रिधा रेचन-स्तम्भनपूरणद्वारेण बाह्याभ्यान्तरेषु स्थानेषु गतेः प्रवाहस्य विच्छेदो धारणं प्राणायामः"—अर्थात् इससे प्राण को बाहर निकाल कर बाहर रोकना और भीतर लेकर भीतर रोकना सर्वथा अभिप्रेत है। अन्यथा प्राणायाम का लक्षण ही नहीं बनता है। महर्षि का कथन सर्वथा युक्त है और यक्ता जी तथा उनके प्राणायाम सिखाने वाले गुरु का कथन असंगत है। "प्रच्छर्दन" शब्द का अर्थ भी वमन होता है। कोई भी संस्कृत पढ़ा व्यक्ति सरलता से इस अर्थ को समझ सकता है। व्यास भाष्य (योग १।३४) में भी यही अर्थ किया गया है जो महर्षि ने किया है। 'कोष्ठान्तर्गत प्राण वायु को नासिका पुटों से प्रयत्न विशेष द्वारा वमन प्रच्छर्दन[1] है"—यह व्यास का अर्थ है। इसमें और महर्षि दयानन्द के अर्थ में कोई भेद नहीं है। चौथे प्राणायाम का लक्षण भी महर्षि व्यास के अनुसार ही है। यदि महर्षि द्वारा

[1]कोष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्
व्या० भा० १।३४।

प्रदर्शित योग के प्रकार का अनुवर्तन कर कोई योगी नहीं बन सकता है तो इससे भिन्न प्रकार से शतशः वर्षों में भी कोई योगी नहीं बन सकेगा। कर्नल अल्काट के प्रश्न के उत्तर में महर्षि ने अपने को मध्यम कोटि का योगी कह कर शंकराचार्य को उत्तम कोटि के योगी होने का प्रमाण नहीं दिया है। वहाँ पर उन्होंने अपनी शालीनता और विनय को प्रकट किया है। उत्तम कोटि के योगी पतंजलि आदि हैं। श्री शंकराचार्य ने राजा के शरीर में प्रवेश कर पुनः अन्य कार्यों से कामशास्त्र सम्बन्धी विषयों का परिज्ञान किया—यह तो किसी भी प्रकार योग से सिद्ध ही नहीं हो सकता है क्योंकि पर शरीर में प्रवेश करने पर भी जितान्तः करण होने से उस शरीर वाले भोगों को योगी प्राप्त नहीं कर सकता है।

इसके अतिरिक्त अपने को मध्यम कोटि का योगी बताने की घटना सन् १८८० की है और मृत्यु १८८३ में हुई। इतने दिनों में मध्यम कोटि का योगी—क्या पूर्ण योगी नहीं हो सकता है? योगदर्शन के सूत्रों सम्बन्धी जितने आक्षेप उठाये गये हैं। उनका उत्तर भी दर्शनतत्त्व तत्त्वदर्शी महर्षि दयानन्द शीर्षक में दे दिया गया है।

महर्षि दयानन्द का संन्यास

'दयानन्दरहस्य' पुस्तक के लेखक ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ६३ से ७३ पर्यन्त "अनुपम संन्यासी दयानन्द' शीर्षक से महर्षि के संन्यासी होने पर बहुत से आक्षेप किये हैं। इनका संक्षेप में यहाँ पर उत्तर दिया जाता है।

'यक्ता' जी का एक आक्षेप यह है कि महर्षि ने वैराग्य के उदय होने से संन्यास नहीं लिया बल्कि चतुर्थ आश्रम में प्रवेश

से भोजन बनाने से बचने के लिए तथा घर में प्रसिद्ध नाम के बदल जाने से यावत् अवस्था घर वालों के द्वारा पकड़े जाने से निश्चिन्त हो जाने की दृष्टि से संन्यास ग्रहण किया।

परन्तु लेखक ने जो कुछ परिणाम इस अपने लेख से निकाला है, वह सर्वथा युक्ति और तर्क से हीन है। यदि यह मान लिया जावे कि घर वालों के पकड़े जाने और भोजन बनाने में अधिक समय न व्यतीत हो इसलिये महर्षि ने सन्यास लिया तब भी सिद्धान्त की कोई हानि तो नहीं। मनु आदि स्मृतिकारों ने आपद्धर्म में ऐसा करने का विधान किया है। जहाँ पर जनता और देश, धर्म का अधिक कल्याण उनके ऐसा करने से संभावित और निश्चित है वहाँ इस थोड़े से विपरीत व्यवहार करने में कोई धर्म हानि नहीं। यदि छोटी सी इस बात को लेकर वे अपने मार्ग को छोड़ देते और संन्यास न लेते तो इतना बड़ा महान् कार्य जो उनके जीवन से हुआ वह न हो पाता।

इसके अतिरिक्त महर्षि के संन्यास लेने का कारण इतना ही नहीं था। महर्षि के हृदय में ज्ञानान्वेषण की एक ज्वलन्त लालसा थी; जिसने उन्हें संन्यास लेने को प्रेरित किया। जब दक्षिणी पंडित ने स्वामी पूर्णानन्द जी के पास महर्षि को संन्यास के लिए प्रस्तुत किया तब उसने भी यही भाव स्वामी पूर्णानन्द जी से व्यक्त किये। "यह[1] (दयानन्द) संन्यास के लिए नितान्त इच्छुक हैं, क्योंकि ऐसा करने से यह वेदान्तादि शास्त्र को निर्विघ्न होकर आलोचना कर सकेंगे"—यह वचन उस पंडित के हैं। ये ज्ञान-लालसा को संन्यास का कारण बताते हैं।

[1]देखें देवेन्द्र नाथ कृत बृहज्जीवन चरित्र पृष्ठ ५७।

निजकथित जीवन चरित्र की ये पंक्तियाँ जो बहिन की मृत्यु से करुण रुदन करते हुये परिवार के मध्य में विद्यमान बालक मूल शंकर के मन में उद्भूत विचारों की प्रतीक हैं—और भी अधिक प्रकाश डालता हैं—"उसी समय पूर्ण विचार कर लिया कि जिस प्रकार हो सके मुक्ति हस्तगत करूँ; जिसके द्वारा मृत्यु समय के समस्त दुःखों से बचूँ। अन्त में यह हुआ कि इस संसार से मेरा मन एक बार ही हट गया और उत्तम विचार करने में सन्नद्ध[1] हो गया।"

यदि केवल भोजन बनाने के कष्ट से बचना और घर वाले पकड़ न ले जावें—यही महर्षि के संन्यास के कारण होते तो घर छोड़ने और पुनः घर वाले न पकड़ ले जावें आदि कार्यों के पृष्ठ पीछे कौन सी भूमि का थी; इसका भी तो उत्तर देना होगा। यह भूमिका थी शिवरात्रि की घटना से उद्भूत हुई सच्चे शिव के खोज की इच्छा और बहन तथा चाचा की मृत्यु को देखकर उत्पन्न हुई मृत्यु की समस्या एवं संसार से निर्विण्णता। इसी ने महर्षि दयानन्द को संन्यास के लिए प्रेरित किया।

"दयानन्द छलकपटदर्पण" के लेखक जियालाल जैनी ने अपनी पुस्तक में पृष्ठ ४ पर जो कुछ इस विषय को लेकर लिखा है; वह भी अनर्गल प्रलाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उनका यह कथन कि—जब स्वामी जी मातापिता को देव मानते हैं तो मातापिता की सेवा से बचने का स्वयं प्रयत्न करना संन्यास लेकर—व्यर्थ है। माता-पिता की सेवा करना कर्त्तव्य है परन्तु उस कर्त्तव्य के न निभाने से यदि संसार का उससे अधिक लाभकारी महान् कार्य सिद्ध होता हो तो ऐसा करना ही

[1]निजकथित जीवन चरित्र पृष्ठ १५ चतुर्थ संस्करण।

कर्त्तव्य है। अनेक महान् पुरुषों ने ऐसा ही किया है। श्री यक्ता जी आदि जो आक्षेप महर्षि के ऊपर उठाते हैं ऐसे आक्षेप तो शंकर और बुद्ध आदि पर भी कोई उठा सकता है। परन्तु उसका कोई अर्थ नहीं।

श्री जैनी जियालाल की लिखी पुस्तक का बार-बार जिक्र करना और महर्षि के जन्म स्थान आदि के बारे में उसे खोज पूर्ण बताना भी व्यर्थ का आलापमात्र है। दयानन्द-छलकपट दर्पण में जो कुण्डली बनाकर छापी गई है उससे महर्षि दयानन्द के कापडी कुल में पैदा होने की पुष्टि नहीं होती है। फुट नोट में जो श्लोक[1] जियालाल जी ने दिया है उसके द्वितीय चरण में तो महर्षि का द्विजवर कुल में उत्पन्न होना लिखा है। साथ ही कुण्डलियाँ तो जब चाहें और जिस नाम की चाहें किसी भी समय बनायी जा सकती हैं। कुण्डली बनी शिव भजन की और नाम मूल शंकर का सिद्ध किया जावे कितनी उल्टी बात है। मूल नामक नक्षत्र का वर्णन करना भी कुण्डली के बनावटी होने का सकेंत करता है। कापड़ी जाति में यज्ञोपवीत होता है—यह भी निराधार है।

यहाँ पर यह भी समझना चाहिए कि जिस समय महर्षि ने संन्यास लिया था उस समय तो वे आर्यसमाज के प्रवर्तक और सत्यार्थ प्रकाश के लेखक महर्षि दयानन्द सरस्वती नहीं थे। फिर उन घटनाओं के आधार पर बाद के जीवन पर और बाद की घटनाओं को आधार बनाकर पूर्व के जीवन पर आक्षेप किस प्रकार युक्तिसंगत हो सकता है।

---

[1]प्रादुर्भूतो द्विजवरकुले दक्षिणे देशवर्य्ये। दयानन्द छलकपट दर्पण पृष्ठ ८ फुट नोट।

महर्षि के जीवन में संन्यास के नियमों के पालन का अभाव था; इस बात को सिद्ध करने के लिए दयानन्दरहस्य के लेखक ने जो भी तर्क दिये हैं—वे बड़े ही लचर हैं। गुरु को शाल और दो अशर्फियाँ देना, घर से चलते समय साथ में कुछ आभूषणों का रह जाना, शीत-निवारणार्थ अभ्रक भस्म रखना, संसार-यात्रा पूरी करते समय प्रचुर धन छोड़ना, छापाखाना स्थापित करना, पुस्तकें छपवाना—इत्यादि को लेकर महर्षि पर वित्तेषणा से युक्त होने का व्यर्थ का आरोप किया है। कोई समझदार व्यक्ति इन बातों के आधार पर यह नहीं कह सकता कि महर्षि में संन्यासी का व्यवहार नहीं था। पुस्तकें छपवाना आदि कार्य वेद प्रचार और जन उपकार के लिए था। संन्यासी का कार्य हो लोक का उपकार करना है। क्या कोई यह महर्षि के जीवन में दिखला सकता है कि कभी उन्होंने किसी के सामने धन के लिए हाथ फैलाया हो। शरोर की आवश्यकताओं के पूर्त्यर्थ और जिस महान् कार्य को उन्होंने उठाया था; उसके सिध्यर्थ जितने धन की आवश्यकता थो क्या यह यक्ता जी द्वारा बतलाया सब संचय उसके तुच्छतम भाग की पूर्त्ति कर सकता है। वे एक महान् नेता, जगदुद्धारक, सुधारक और वेद सिद्धान्तों के प्रसारक थे—इस बात को देखते हुए जिन संचयों का नाम लिया गया है नगण्य से भी नगण्य हैं। कोई भी यह बतला दे कि शंकराचार्य के मठों की भाँति महर्षि ने भी कोई मठ बनाया हो। इन मठों की गद्दियों पर भो तो संन्यासी ही बैठते हैं—कितना धन इन मठों में है—यह भी किसी से छिपा नहीं है। यह भी उपदेश करते हैं कि "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है—परन्तु व्यवहार में जगत् सत्य बन रहा है। महर्षि के विस्तृत जीवन चरित्र को पढ़ने पर उनके त्याग और उनके

संन्यासयुक्त व्यवहार का पदे पदे परिपुष्ट उदाहरण मिलता है। अगर वे चाहते तो राजाओं महाराजाओं से कितनी ही सम्पत्ति एकत्र कर सकते थे। परन्तु कहीं किसी से कुछ भी लिया हो—ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता।

"विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्" यह श्लोक भाग महर्षि का गढ़ा नहीं है। यह मनुस्मृति में पाठ भेद से विद्यमान है। इस सम्बन्ध में पूरा विचार 'तार्किक शिरोमणि दयानन्द' शीर्षक वाले प्रकरण के खण्डन के प्रसंग में किया गया है।

यह भी गलत है कि दुर्वचन महर्षि का अमोघ अस्त्र रहा हो। कटुवचन और दुर्वचन में महान् अन्तर है। महर्षि ने कभी भी दुर्वचन का सहारा शास्त्रार्थ जीतने में नहीं लिया। महर्षि को छोड़कर अन्य आचार्यों के कटुवचनों का यदि संग्रह किया जावे तो एक बड़ी भारी पुस्तिका बन सकती है परन्तु इसके विस्तार में जाने की मैं यहाँ आवश्यकता नहीं समझता हूँ। दयानन्द छल कपट[1] दर्पण के पृष्ठ २३४ पर यह बतलाते हुये कि शंकराचार्य ने जैनों के साथ शास्त्रार्थ नहीं किया, बौद्धों के साथ किया—जियालाल जैनी ने आनन्दगिरिरचित शंकर दिग्विजय के २६ वें अध्याय का संदर्भ दिया है। उस संदर्भ में शंकर के शब्द अहिंसावादी सौगत के प्रति इस प्रकार हैं—"रे रे सौगत ! नीचतर किं किं जल्पसि" अर्थात् रे सौगत नीचतर ! क्या-क्या कहता है। क्या यह दुर्वचन नहीं है। जियालाल जी का यह कहकर सन्तुष्ट हो जाना कि शास्त्रार्थ बौद्धों से हुआ था--जैनों से नहीं विचित्र ही आत्मतुष्टि है। उन्हें ज्ञात होना चाहिये कि

---

[1]दयानन्द छल कपट दर्पण पृष्ठ २३४ द्वितीया वृत्ति संवत् १९८६ श्री कामता प्रसाद दीक्षित, अमरौधा कानपुर द्वारा प्रकाशित।

वेदान्त सूत्र "नैकस्मिन्नसंभावत् २।२।३३ आदि सूत्रों पर शंकराचार्य ने जैन धर्म का ऐसा खण्डन किया है कि सदा ही स्मरण रहेगा शंकर[1] द्रिग्विजय सर्ग १५ के १४३ श्लोक से लेकर १५६ श्लोक पर्यन्त जैन सिद्धान्तों का घोर खण्डन शंकर के द्वारा किया जाना वर्णित किया गया है।

वेदव्यास[2] का ब्राह्मण के रूप में आकर ब्रह्मसूत्र ३।३।१ "तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति प्रश्ननिरूपणाभ्याम्" पर शंकर से ७ दिन शास्त्रार्थ करना और प्रसन्न होकर आशीर्वाद देना—शंकर दिग्विजय में वर्णित है। यह कितनी असंभव बात है। व्यास से शंकर क्या शास्त्रार्थ कर सकते थे। क्या यह कल्पित वस्तु मात्र नहीं है। श्री शंकराचार्य का सर्वज्ञ पीठारोहण शंकर दिग्विजय के १६वें सर्ग में वर्णित है और अचिकित्स्य भगंदर रोग हो गया और उनका अधोवस्त्र खून से भीग जाता था—इसका भी वर्णन है।

सर्वज्ञ पीठाधिरोहण के विषय में यह वर्णन पाया जाता है। "विभिन्न दर्शनों के पेचीदे प्रश्नों का उत्तर देकर शङ्कर ने अपने सर्वज्ञ होने के दावे को सप्रमाण सिद्ध कर लिया। भीतर जाकर ज्यों ही सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण करने लगे शारदा की भावना आकाशवाणी के रूप में प्रकट हुई। आकाशवाणी ने कहा इस पीठ पर अधिरोहण करने के लिये सर्वज्ञता ही एक मात्र साधन

---

[1] माधवाचार्यकृत शंकर दिग्विजय सर्ग १५ श्लोक १४३-१५६। श्रवणनाथ ज्ञान मंदिर हरद्वार संस्करण संवत् २०००।

[2] ,, ,, ,, शंकर दिग्विजय सर्ग ७ श्लोक १—१० पर्यन्त तथा श्री बलदेव उपाध्याय की भूमिका पृ० २२

नहीं, पवित्रता भी उसका प्रधान सहायक साधन है। संन्यासी होकर कामकला का सीखना, शरीर में प्रवेश कर कामिनियों के साथ रमण करना नितान्त निन्दनीय है। भला ऐसा व्यक्ति पावनचरित्र होने का अधिकारी कैसे हो सकता है। शंकर ने उत्तर दिया—क्या अन्य शरीर में किये गये पातक का फल तद्भिन्न शरीर को स्पर्श कर सकता है? इस शरीर से तो मैं निष्कलंक हूँ।······इत्यादि[1]। छान्दोग्य भाष्य में न काञ्चनं परिहरेद्व्रतम्—२।१३।२ पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है कि "अपनी तल्प[2] पर आयी हुई समागम के प्रयोजन वाली किसी स्त्री को नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि वामदेव्य साम में इसका उपासना के अङ्ग रूप में विधान है। इससे भिन्न में प्रतिषेध स्मृतियाँ हैं। एक ऐसे उच्च संन्यासी के विषय में यह कैसी लीला है—इस पर यदि कोई विधर्मी प्रश्न उठाये तो श्री यक्ता जी के लिए उत्तर देना भी दुष्कर हो जावेगा। ऐसी अनेक बात हो सकती हैं परन्तु मैं इन्हें कोई महत्व देना पसन्द नहीं करता। जानें इसके लिखने वाले और आज तक इसका उत्तर न देने वाले।

---

[1]शंकर दिग्विजय सर्ग १६ श्लोक ८४ से ८६ पर्यन्त—सर्वज्ञतैकैव भवेन्न हेतुः०,त्वं चाङ्गनाः समुपभुज्य०;नास्मिञ्शरीरे कृतकिल्विषोहम्०"—तथा पं० बलदेव जी उपाध्यायकृत भूमिका पृष्ठ ४६

[2]न काञ्चन काञ्चिदपि स्त्रियं स्वात्मतल्पप्राप्तां न परिहरेत् समागमार्थिनीम् वामदेव्ये सामोपासनाङ्गत्वेन विधानात्—एतस्मादन्यत्र प्रतिषेधस्मृतयः। छान्दोग्य शंकर भाष्य २।१३।२

सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण और उसका प्रमाणा-प्रमाणत्व—

सन् १८७७ ईस्वी में महर्षि एक स्थान पर व्याख्यान दे रहे थे। विषय मृतक श्राद्ध का था; उन्होंने मृतक श्राद्ध का खण्डन किया। एक व्यक्ति ने जनता में से ही एक पुस्तक दिखलाकर कहा कि स्वामी जी ने पुस्तक में तो मृतक श्राद्ध का मण्डन किया है यहाँ पर खण्डन कर रहे हैं। उसने इस प्रथम संस्करण सत्यार्थ प्रकाश को दिखलाया। सन् १८७८ में महर्षि ने यजुर्वेद भाष्य के प्रथम अङ्क के टाइटिल पृष्ठ पर एक विज्ञापन मुद्रित कराया जो निम्न प्रकार है—

सब को विदित हो कि जो जो बातें वेदों के अनुकूल हैं मैं उन को मानता हूँ विरुद्ध बातों को नहीं, इससे जो जो मेरे बनाये "सत्यार्थ प्रकाश" वा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र या मनुस्मृति आदि पुस्तकों के बहुत से वचन लिखे हैं, वे उन ग्रन्थों के मतों को जानने के लिए लिखे हैं; उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध अप्रमाण मानता हूँ। जो जो बात वेदार्थ से निकलती हैं उन सब को प्रमाण करता हूँ क्योंकि वेद ईश्वर वाक्य होने से सर्वथा मुझको मान्य है और जो जो ब्रह्मा जी से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त महात्माओं के बनाये हुये वेदार्थानुकूल ग्रन्थ हैं; उनको भी मैं साक्षी के समान मानता हूँ और जो "सत्यार्थ प्रकाश" के ४२ पृष्ठ २५ पंक्ति में "पित्रादि को में जो कोई जीता हो उसका तर्पण करे और जो मर गये हैं उनका तो अवश्य करे" तथा पृष्ठ ४७ पंक्ति २१ मरे भये पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है—इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में जो छापा गया है सो लिखने और शोधने वालों की भूल से छप

गया है । इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिए कि जीवितों की श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना—यह पुत्रादि का परम धर्म है, और जो मर गये हों उनका नहीं करना, क्योंकि न तो कोई मरे हुये जीव के पास किसी पदार्थ को पहुँचा सकता है और न मरा हुआ पुत्रादि के दिये पदार्थों को ग्रहण कर सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीते पिता आदि की प्रीति से सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध है, अन्य नहीं। इस विषय में वेद-मंन्त्रादि का प्रमाण भूमिका के ११ अंक के २६७ पृष्ठ तक छपा है वहाँ देख लेना[1] ।"

इससे स्पष्ट है कि प्रथम संस्करण को महर्षि स्वयं स्वीकार नहीं कर रहे हैं। जब लेखक स्वयं उसे अस्वीकार कर रहा है तब उसको प्रमाण मानकर किया गया आक्षेप ऋषि और आर्य समाज पर लागू नहीं होता। अमान्य होने से उत्तर देने योग्य भी नहीं।

द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाश

इस सम्बन्ध में महर्षि द्वारा मुंशी समर्थ दास जी को लिखा गया पत्र यहाँ पर उद्धृत किया जाता है। ये मुंशी जी उस समय वैदिक यंत्रालय प्रयाग के प्रवन्धक थे।

मुंशी समर्थ दास जी आनंदित रहो।

पत्र तुम्हारा २६ अगस्त का लिखा आया—समाचार विदित हुआ और जो तुमने रजिस्टर और दोनों की भाषा और सभा का कृत्य भेजा पहुँचा। इस भाषा को देखकर जैसा होगा वैसा लिखा जायेगा········।

---

[1]देखें श्री पं० भगवद्दत्त जी बी. ए. द्वारा सम्पादित ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन के प्रथम संस्करण का पृष्ठ १००

.........आज यहाँ से २४८ से लेके २७८ तक "सत्यार्थ प्रकाश" और १८१० से लेके १८६५ तक ऋग्वेद के पन्ने भाषा बनाने के लिए भेजे हैं। पहुँचने पर ज्वालादत्त को दे देना और रसीद भेज देना। प्रथम "सत्यार्थ प्रकाश" के पत्र २५० तक तुम्हारे पास भेजे थे और तीन पृष्ठ राम सनेही के निकट धरे हैं सो ४८-४६-५० अंक घटे हैं। तुम को भ्रम न हो। परन्तु इतना अवश्य करना कि जो वहाँ २५० पृष्ठ हैं उनके अन्त और २४८ पृष्ठ आदि की संगति तुम मिला देना और २५१ पृष्ठ के आदि और जो अब २५० वां पेज है उसकी सभी संगति मिला देना, और ग्यारह समुल्लास की समाप्ति तक सब पत्र भेज दिये हैं।

जोधपुर (मारवाड़) दयानन्द सरस्वती
भाद्रबदी ३० संवत् १६४०

यह पत्र महर्षि ने अपने देहावसान से दो मास पूर्व लिखा था। इससे सुतरां सिद्ध है कि महर्षि के जीवन काल में ही "सत्यार्थ प्रकाश" के द्वितीय संस्करण के ग्यारह समुल्लास छप चुके थे।

दूसरा पत्र—

मुन्शी समर्थदास जी, आनन्दित रहो !

एक भूमिका का पृष्ठ और ३२० से लेके ३४४ तौरेत और जबूर का विषय सत्यार्थ प्रकाश का भेजते हैं सम्भाल लेना। आश्विन बदी ८ सोमवार सम्वत् १६४० को संस्कार विधि के पृष्ठ एक से लेके ४७ तक भेजे हैं; पहुँचे होंगे और पहुँचने पर रसीद भेज देना।

मिती आश्विन १३ शनि ह० दयानन्द सरस्वती
सम्वत् १६४०

इस पत्र से यह स्पष्ट है कि महर्षि के जीवन काल में ही "सत्यार्थ प्रकाश" ३४४ पृष्ठ तक छप चुका था। तौरेत और जबूर का विषय "सत्यार्थ प्रकाश" के तेरहवें समुल्लास में है। यह पत्र महर्षि ने अपनी मृत्यु के एक मास पूर्व लिखा था।

तीसरा पत्र—आश्विन बदि ८ सोमवार सम्वत् १९४० (२४ सितम्बर १८८३) ई० को मुन्शी समर्थदास जी के नाम पत्र—

मुन्शी समर्थदास जी,

आनंदित रहो !

आज संस्कार विधि के पृष्ठ १ से लेके ४७ तक भेजते हैं; सम्भाल के छपवाना—और "सत्यार्थ प्रकाश" जो कि १३ समुल्लास ईसाइयों के विषय में है; वह यहाँ से चले पूर्व अथवा समूचे पहुँचते समय भेज देंगे।[1]—

दयानन्द सरस्वती

इन पत्रों से यह स्पष्ट है कि सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय संस्करण की पाण्डुलिपि महर्षि की मृत्यु से बहुतपूर्व लिखी जा चुकी थी और १३वें समुल्लास तक की प्रेस कापी महर्षि के निर्वाण से लगभग एक मास पूर्व मुद्रणालय में पहुंच गयी थी। अतः यह आक्षेप सर्वथा मिथ्या है कि सत्यार्थ प्रकाश का द्वितीय संस्करण महर्षि के बाद बनाया गया।

श्री पं० दीनानाथ शास्त्री को उत्तर

श्री पं० दीनानाथ शास्त्री सारस्वत ने "दयानन्दरहस्य" के मुखबन्ध में महर्षि पर कुछ उटपटांग आक्षेप किये हैं; उनका भी उत्तर

[1] ये पत्र व्यवहार यहाँ पर 'वेदसंज्ञा विमर्श' से उद्धृत किये गये हैं। देखें इस पुस्तक का पृष्ठ ७५-७८। प्रथम संस्करण कानपुर।

उसी क्रम से यहाँ पर दिया जाता है। महर्षि ने ही नहीं समस्त वैदिक परम्परा में चार ही वेद की संहितायें मानी गई हैं। इस का वर्णन इस पुस्तक में प्रस्तुत प्रसङ्ग में कर दिया गया है। महर्षि को आरंभ से ही असत्य से कुछ प्रेम था—ऐसा कोई समझदार व्यक्ति नहीं कह सकता है। क्योंकि महर्षि की सत्यनिष्ठा संसार पर दो दो चार की भाँति प्रकट है।

(क) तरुतारम् और "द्वादश प्रधय:" (१।१६४।४८) मंत्रों से तार विद्या और 'विमान' आदि जो अर्थ महर्षि ने किये हैं सर्वथा युक्तियुक्त और आर्षपरम्परा के अनुकूल हैं—क्योंकि वेद मंत्रों का अर्थ तीन प्रक्रियाओं में होता है। (प्रक्रिया का वर्णन वेद सम्बन्धी प्रकरण में देखें। 'ख' स्वर्ग का महर्षि ने जो अर्थ किया है वह सर्वथा ठीक है। क्योंकि वैकुण्ठ नाम से विख्यात और पौराणिक स्वर्ग का वर्णन वेदादि सत्य शास्त्रों में नहीं मिलता है। (ग) स्वर्ग वाचक दिव् शब्द का सूर्य अर्थ भी सर्वथा संगत है। ऋग्वेद १।६५।१ मंत्र में दिव् पद सूर्य अर्थ में सुसंगत है। कहीं पर भी महर्षि ने मन्वादि स्मृतियों के वाक्यों वा पदों का मनमाना अर्थ नहीं किया है। कोई उद्धरण देना चाहिये था। इस कौशल का नाम आर्यसमाज नहीं। यह तो कथित सनातन धर्म है जहाँ उल्टी सीधी दोनों प्रकार की गंगा बहती है। सनातन धर्म का सप्रमाण लक्षण ही करके दिखला देना चाहिए था। (घ) ब्राह्मणों से घृणा नहीं थी ब्राह्मण न होते हुए भी ब्राह्मण कहलाने वालों से घृणा थी। ततोब्राह्मणभोजनम्—कोई वेदवाक्य तो नहीं है। उदरम्भरियों ने ऐसे वाक्य बना लिए होंगे। (च) मनुस्मृति २।१६८ में आये "जीवन्नेव" पद से जन्म से वर्ण व्यवस्था की सिद्धि किसी भी प्रकार नहीं हो सकती है। 'जीवन्नेव'

का अर्थ जोता हुआ ही—स्पष्ट है। साथ में आशु पद भी लगा है। श्री कुल्लूक भट्ट ने भी यहां पर "जीवन्नेव पुत्रपौत्रादिसहितः शीघ्रं शूद्रत्वं गच्छति" ही अर्थ लिया है। यहां 'जीवन्नेव' पद इस लिए है कि कोई मर कर शूद्र बनने का अर्थ न कर लेवे। सत्यार्थ-प्रकाश के अर्थ में वह अपने पुत्र-पौत्र सहित" अर्थ से 'जीवन्नेव' का भाव संगृहीत है। (छ) सत्यार्थप्रकाश में प्रमाणार्थ भाव मात्र लिखा गया है शब्दार्थ नहीं। शंकराचार्य आदि ने अनेकों वाक्य अपने भाष्य में प्रमाण रूप में दिये हैं परन्तु उनके शब्दशः अर्थ नहीं किये हैं। दलील बाजी को स्थान यदि न दिया जावे तो प्रमाणों की सारा-सारता का निर्णय किस प्रकार होगा।

(ज) मनु के ९।९० श्लोक की व्याख्या में सत्यार्थ प्रकाश में (चतुर्थ समुल्लास) ऋतुमती का अर्थ कर दिया था अतः प्रसंग में इस श्लोक का केवल भाव ही लिख दिया। शब्दार्थ नहीं किया। परन्तु यहाँ "ऋतुमती अपि" से रजस्वला का विवाह निषिद्ध किस प्रकार हो सकता है। यहाँ पर तो असदृश वर को न देने में यह अपवाद बतलाया गया है। मनु २।९०-९१ श्लोकों में वह अपवाद तीन वर्ष का है और पुनः स्वयं विवाह करने का अधिकार दे दिया गया है। परन्तु १० वर्ष के बाद कन्या रजस्वला हो जाती है आर उसको देखकर माता, पिता और भ्राता तीनों ही नरक को जाते हैं—इन वचनों की आपके यहाँ क्या स्थिति होगी? रजस्वला के विवाह का यदि आप द्वारा दिये गये शब्दों से निषेध है तो घर में रजस्वला का रखकर नरक गमन के भय से भयभीत न होकर पर्याप्त समय तक रजस्वला का दर्शन करते रहने से अधिक रजस्वलाप्रेम और क्या हो सकता है?

(झ) यहाँ पर भी प्रमाणार्थ उद्धृत का केवल भावमात्र लिखा गया है। शब्दार्थ नहीं। "जातिपरिवृत्तौ" का अर्थ 'जन्म-परिवर्त्तन' लेने पर इस आपस्तम्बीय २।१०-११ सूत्रों का अर्थ ही संगत न हो सकेगा। क्या जो लोग धर्म परिवर्तन करके यवन ईसाई आदि हो जाते हैं उनके लिए यह आपका माना हुआ "जातिपरिवृत्तौ" का अर्थ नहीं लगता है। फिर तो उन्हें भी जन्म के परिवर्त्तन पर्यन्त उसी ही वर्ण में मानना चाहिए; जिसमें से वे जा रहे होते हैं। परन्तु ऐसा मानने को कोई पौराणिक भाई तैयार नहीं।

(ञ) यहाँ पर महर्षि ने मंत्र में तो कोई प्रक्षेप नहीं किया है। अथ करते समय यदि कोई शब्द अध्याहृत किया जाता है तो उसका नाम प्रक्षेप नहीं है। प्रक्षेप तो तब है जब मूल में कोई शब्द मिला दिया जावे। क्या आप के अनुसार प्रेत का अर्थ जीवित होगा। यदि यह सती होने का मंत्र आपके कथन के अनुसार दुर्जनतोषन्याय से मान लिया जावे तो 'प्रेतम्' का अर्थ क्या बनेगा ? क्या मृतपति के अतिरिक्त और किसी के भी साथ सती होने वाली सती हो सकती है। अथर्व में यह मंत्र १८।३।१ स्थल पर है। इससे अगला मंत्र 'उदोर्ष्व नार्यभिजीवलोकम्० है। यह मंत्र ऋग्वेद १०।१८।८ पर भी है। ऋग्विधान[1] में इस मंत्र को नियोग में ही लगाया गया है। महर्षि ने अग्नि और इन्द्र आदि पदों के जो भिन्न अनेक अर्थ दिये हैं—वे ब्राह्मण, निरुक्त आदि के अनुसार हैं। यौगिक प्रक्रिया से ऐसा ही अर्थ लगता है। इसका विवेचन "अद्वितीय वेदज्ञ" शीर्षक का उत्तर देते समय कर दिया गया है।

[1] भ्रातुर्भार्यामिपुत्रस्य सन्तानार्थं मृते पतौ।
देवरोन्वारूरुक्षन्तीमुदीर्ष्वेति निवर्त्तयेत्॥ ऋग्विधान अध्याय ३ श्लोक ४४
श्री पं० जगदीश शास्त्री संपादित १९९७ सम्वत् लाहोर संस्करण

दयानन्दरहस्य पुस्तक के लेखक श्री रामचन्द्र यक्ता ने इस पुस्तक में अशिष्ट भाषा का प्रयोग अधिक किया है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शास्त्रार्थ का आह्वान देने पर भी वे शास्त्रार्थ के लिए तैयार नहीं हैं। अपने को 'आर्य समाज विजेता' मान कर भी शास्त्रार्थ करने से बगल झांकना असमर्थता का सबसे बड़ा चिन्ह है। श्री 'यक्ता' ने अपने स्वभावानुसार श्री सनातन धर्म सभा अमरोहा (उत्तर प्रदेश) के वार्षिकोत्सव पर ३० मई सन् १९६१ को मंगलवार की रात्रि में महर्षि दयानन्द सरस्वती को गद्दार कहा था। स्थानीय आर्य समाज के मंत्री श्री प्रेमबिहारी बंसल ने यक्ता को दिनाङ्क २५ अक्टूबर १९६१ को एक पत्र द्वारा शास्त्रार्थ करने का आह्वानदेते हुए लिखा कि वे (यक्ताजी) शास्त्रार्थ करके अपने द्वारा महर्षि पर किये गये आक्षेपों को सिद्ध करें। समय श्री यक्ता की सुविधानुसार नवम्बर १९६१ दिया गया। यह भी पत्र में अंकित है कि यक्ता जी का उत्तर न आने पर अथवा शास्त्रार्थ के लिए तैयार न होने पर 'यक्ता' को पराजित समझा जावेगा। परन्तु आज तक यक्ता जी का कोई उत्तर नहीं मिला। यह है स्थिति अपने को मनमानो आर्यसमाज विजेता लिखने वाले की। घर में अपनी कोई कल्पित उपाधि कोई लगा ले। यह तो अपने मुँह मियां मिट्ठू बनने की बात है।

इस सम्बन्ध में यक्ता जी द्वारा प्रयुक्त अपशब्द के लिए अमरोहा सनातन धर्म सभा के उपमन्त्री श्री वीरेन्द्र कुमार जी अग्रवाल ने आर्यसमाज अमरोहा के प्रधान को १।६।६१ को पत्र लिखकर जो खेद प्रकट किया है उसकी प्रतिलिपि नीचे दी जाती है—

माननीय प्रधान जी १-६-६१
आर्यसमाज अमरोहा ।

आपका ३१ मई का पत्र प्राप्त हुआ । स्वामी दयानन्द एक उच्चकोटि के और आदरणीय महापुरुष थे । श्री स० ध० सभा, अमरोहा के मंच से श्री यक्ता जी द्वारा उनके प्रति कहे गये शब्द घृणित थे ।

मैं उससे सहमत नहीं हूँ । मैंने मंच से ही इसका विरोध किया था ।

भवदीय
वीरेन्द्र कुमार अग्रवाल
उपमंत्री
सनातन धर्म सभा अमरोहा

इससे पाठकगण समझ सकते हैं कि श्री 'यक्ता' जी के कथन में कितना तथ्य हुआ करता है । यहाँ पर प्रस्तुत किये गये पत्र सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा को विविध फाइल संख्या एक से लेकर लिखे गये हैं ।

दयानन्द-छल कपट-दर्पण के कर्त्ता श्री जियालाल जैनी ने अपनी इस पुस्तक के पृष्ठ ३८ से ४१ पर्यन्त (द्वितीय संस्करण अमरौधा कानपुर) आर्यसमाज के दश नियमों पर शंका उठाकर खण्डन किया है । उसका नियमों के अनुक्रम से समाधान किया जाता है—

१—सब सत्य विद्या इत्यादि ।

शंका—जब सब का आदि मूल ईश्वर है तो प्रमाणु और जीवों को नित्य मानना क्या इस नियम के प्रतिकूल है ?

समाधान—परमाणु और जीव को नित्य मानना इस नियम के प्रतिकूल नहीं है । इसका समाधान दो प्रकार से है । पहला

प्रकार यह है कि नियम में जो (जो वस्तु) पदार्थ-विद्या (Physical Science) से जाने जाते हैं उनका आदिमूल परमेश्वर है। पदार्थविद्या को एक पद मानकर यह उत्तर बनता है। जीव आदि इसके विषय नहीं हैं अतः इनका मूलकारण ईश्वर नहीं ठहरेगा। दूसरा समाधान यह है कि मूल धातु संस्कृत में 'प्रतिष्ठा' और रोहण दो अर्थों में प्रयुक्त होती है। अतः मूल का अर्थ यहाँ पर स्थिति लिया जावेगा। आदिमूल का अर्थ आदि आश्रय होगा, ईश्वर जीव और प्रकृति आदि का आश्रय है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप-आदि।

शंका—यह ज्ञान ईश्वर स्वरूप का परोक्ष है, वा अपरोक्ष? परोक्ष ज्ञान से संशय की निवृत्ति होती है अथवा अपरोक्ष से? परोक्षज्ञान से कदाचित् संशय की निवृत्ति नहीं होती है।

समाधान—परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ही है। योगज प्रत्यक्ष आदि से यह प्रत्यक्ष है अतः अपरोक्ष और अनुमान आदि से जाने जाने से परोक्ष है। परोक्ष से भी संशय की निवृत्ति होती है। जैसे तर्क आदि से और प्रत्यक्ष से भी संशय की निवृत्ति होती है—जैसे स्थाणु में प्रतीत होने वाले पुरुष रूप संशय की प्रत्यक्ष से निवृत्ति होती है। यह गलत है कि परोक्ष ज्ञान से संशय की निवृत्ति नहीं होती है। इस नियम पर आपको जो संशय है वह प्रत्यक्षजनित है अथवा परोक्ष जनित है। यदि प्रत्यक्षजनित है तो बतलाना पड़ेगा कि आपने ईश्वर का प्रत्यक्ष कैसे किया? यदि परोक्ष जनित है तो निवृत्ति भी परोक्ष से हो जावेगी। हाँ, यह भी तो बतावें कि 'जिनतत्वज्ञान' परोक्ष है वा अपरोक्ष है? इसमें होने वाले संशय की निवृत्ति परोक्ष ज्ञान से होगी अथवा अपरोक्ष ज्ञान से और जब परोक्ष ज्ञान से आपके मत में संशय निवृत्ति होती ही नहीं तो फिर इस संशय की निवृत्ति न होने से

जिनतत्त्वज्ञान हो ही नहीं सकेगा। सप्तभंगीन्याय की सिद्धि भी इसी आधार पर खण्डित हो जावेगी।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक०।

शंका—वेद मंत्रभाग माना है, उसी को ईश्वरोक्त कहा, ब्राह्मणभाग ईश्वरोक्त नहीं माना—इसकी यथार्थ समीक्षा हम दूसरे भाग में करेंगे।

समाधान—वेद ईश्वरोक्त, ब्राह्मण उसके व्याख्यान होने से ईश्वरोक्त नहीं हैं। इस का विस्तृत समाधान इस पुस्तक के प्रथम प्रकरण में ही कर दिया गया है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वथा उद्यत रहना चाहिए।

शंका—इसका नाम विवेक है, परन्तु जब तक सत्य और असत्य का विवेक न होवे—यह नियम कब पूरा हो सकता है। जो ईश्वर सत्य है और जगत् भी सत्य है तो दो सत्य नहीं हो सकते; इस कारण ईश्वर सत्य है ऐसा कहना चाहिए। जब ईश्वर सत्य है तो जगत् स्वप्न समान मानना पड़ेगा, जब स्वप्न समान हुआ तो इन पदार्थों में से कहो किसका ग्रहण करें और किसका त्याग करें, ग्रहण और त्याग दूसरे पदार्थ का होता है, जब दूसरा पदार्थ असत्य ही है तो त्याग किसका इस नियम में भी विचार करना चाहिए, यह नियम केवल व्यवहार शुद्धि के लिए है या परमेश्वर प्राप्ति के लिए है, यदि व्यवहार शुद्धि के लिए है तो खैर और जो परमेश्वर प्राप्ति के लिए है तो जगत् स्वप्न समान ही मानना पड़ेगा। इसके मिथ्या पदार्थों का क्या ग्र॰ण और क्या त्याग करना चाहिए।

समाधान—जनो जी ने उड़ान मारने की काशिश तो की परन्तु लड़खड़ा गये। इस नियम मे सत्य और असत्य के विवेक

पूर्वक ही सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग की बात कही गई है। यह तो नहीं कहा गया है कि विना विवेक के हो सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना चाहिए। यहाँ पर तो शब्द ही बतला रहे हैं कि सत्य और असत्य का विवेक होकर ही ग्रहण और परित्याग हो सकता है। एक ही वस्तु में सत्य भी है असत्य भी है—ऐसा दो व्यवहार नहीं हो सकता है। दो-दो चार भी सत्य है और तोन एक चार होता है—यह भी सत्य है। परन्तु दो और तीन चार होता है–यह सत्य नहीं। घोड़े को गाय कहना भो असत्य है और गाय को घोड़ा कहना भी असत्य है परन्तु गाय गाय है और घोड़ा घोड़ा है—यह दोनों ही सत्य हैं। इसी प्रकार ईश्वर भी सत्य है और जगत् भो सत्य है। जो वस्तु जैसी हो उसको वैसा हो जानना और मानना तथा उसके गुण कर्म, स्वभाव के अनुसार ही उसका उपयोग करना सत्य है। इस प्रकार यह नियम नहीं है कि दो वस्तुयें सत्य नहीं हो सकती हैं। एक ही वस्तु में दो विरोधी ज्ञान अर्थात् सत्य और असत्य का व्यवहार नहीं हो सकता है। स्वप्न भी भाव एवं सत्य पदार्थ का ही हुआ करता है। स्वप्न एक प्रकार की स्मृति है जो अनुभूत की ही होती है और अनुभव का विषय भावात्मक सत्य पदार्थ ही हो सकता है। अतः स्वप्न के दृष्टान्त से भी जगत् को असत्य नहीं कहा जा सकता है। जब जगत् असत्य है ही नहीं तो फिर आपके शेष प्रश्न भी नहीं उठते। यह नियम व्यवहार शुद्धिपूर्वक परमेश्वर को प्राप्ति के लिए है। यह तर्क नहीं है बल्कि एक अत्यन्त लचर और निराधार युक्ति है कि नियम को परमेश्वर-प्राप्ति के लिए मानने पर जगत् को मिथ्या मानना पड़ेगा। जैनी तो न जगत् का कर्त्ता मानते हैं और न जगत् का

उत्पन्न होना मानते हैं। उनके मत में तो जगत् अनादि काल से चला आ रहा है फिर इसे जियालाल जी असत्य कैसे कह रहे हैं। जैनी होकर भी यह नवीन वेदान्त कब से स्वीकार कर लिया। क्या यहाँ आप पर भी यह चतुर्थ नियम लागू हो गया। जरा! बताइये तो सही कि ईश्वर सत्य जगत् मिथ्या का सिद्धान्त आपको मान्य है अथवा जिनशास्त्रोक्त सिद्धान्त। ये दोनों सत्य हैं अथवा दोनों असत्य हैं? इनमें आपका क्या विचार है?

५—सब काम धर्मानुसार० इत्यादि।

शंका—यह नियम ऊपर के नियम से मिला हुआ है। केवल "सब काम धर्मानुसार" इतना पद और विशेष है सो इसमें धर्म पर दृष्टि करनी चाहिए अर्थात् जिसका जो धर्म है उसी के अनुकूल सत्य और असत्य को विचार करके करना चाहिए। प्रथम तो यह देखना चाहिए कि शरीर का क्या धर्म है, और आत्मा का क्या है? शरीर जड़ दृष्टि, दुःख रूप है, धर्म इसका उत्पन्न होना, घटना, बढ़ना, नष्ट होना प्रत्यक्ष है। आत्मा दृष्टा है, नित्य चैतन्य जन्म मरण से रहित आनंदस्वरूप है, क्यों जो सत्य है सोई नित्य है, जो नित्य है सोई जन्म मरण से रहित है, जो जन्म मरण से रहित है सोई आनन्द है।...................... यह भी अश्चर्य है निरवयव आकाश जड़ तो सर्वव्यापक, और निरवयव चैतन्य आत्मा प्रभंजन, कहो धर्म अनुसार यह सत्य का ग्रहण है या असत्य का त्याग है? जब निरवयव है तो तीन की गाथा एक ही स्वरूप में कैसे हो सकती है?

समाधान—"अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके"—यह वाक्य धर्मानुसार की व्याख्या है।

शंकाकर्त्ता ने इसे समझा ही नहीं। अपने अपने माने धर्म के अनुकूल सत्य और असत्य का यदि विचार करना अभिप्रेत होता तो आप व्यर्थ में शंका करने का कष्ट क्यों कर रहे हैं। फिर तो वह जिस पर आपको शंका है वह भी सत्य है और आपका भी सत्य है, भैंस भी दूध देती है और भैंसा भी दूध देता है—सभी सत्य हो जावेंगे और फिर सत्यासत्य की कोई व्यवस्था ही नहीं रह जावेगी। आत्मा, चेतन, द्रष्टा तो है परन्तु आनन्द स्वरूप नहीं है। क्या जैन धर्म में भी आत्मा को आनंदस्वरूप माना जाता है। जो कूटस्थ नित्य है वह जन्म मरण से रहित है और सत्य भी है परन्तु प्रत्येक सत्य वस्तु नित्य हो—ऐसा कोई नियम नहीं। शरीर भी भावात्मक और सत्य है परन्तु नित्य नहीं। जो जन्म मरण से रहित है वह आनन्द है—यह भी नियम नहीं है। इसका कोई उदाहरण तो देना चाहिए था। आत्मा स्वभाव से निरवयव और चेतन है। वह निरवयव इसलिए है कि न उसका कोई अवयव है और न वह किसी का अवयव है। आत्मा परिच्छिन्न तो है प्रभंजन नहीं। यह भी नियम नही है कि चेतनमात्र को सर्वव्यापक ही होना चाहिए। आपका मध्यम शरीर परिमाण विभु आत्मा जब चींटी के शरीर में जाता होगा तब उस आकार का और जब हाथी के शरीर में जाता होगा तब उतना फैल जाता होगा—अतः संकोच विकास पाये जाने से वह अनित्य ठहरेगा, फिर द्रष्टा और नित्य चैतन्य इस आपके शब्द व्यवहार का क्या प्रयोजन निकलेगा। प्रकृति, परमाणु निरवयव इसलिए हैं कि उनका अपनी कारणावस्था में कोई अवयव नहीं है। वे ही अपने कार्यों के अवयव हैं। जीव और परमेश्वर इस लिए निरवयव हैं कि न वे किसी के स्वयं अवयव हैं और न उनका स्वयं

कोई अवयव है। परमेश्वर सबसे सूक्ष्म है। अतः सब में वह रह सकता है और ये सब पदार्थ उसमें आश्रय पाते हैं। वह जहाँ सर्वव्यापक है वहाँ सर्वाधार भी है।

६—संसार का उपकार करना० ॥

शंका—जब कर्त्ता हर्त्ता ईश्वर को ही माना गया तो मनुष्य कौन; जो उसके कार्यों में हस्तक्षेप करे, उपासक को उपास्य की बराबरी उचित नहीं।

समाधान—ईश्वर जगत् का कर्त्ता हर्त्ता है। मनुष्यों के करणीय कार्यों का नहीं। ईश्वर की सृष्टि के अन्तर्गत रह कर जीव भी अपने कार्यों का कर्त्ता है। जीव करने में स्वतंत्र है और फल भोगने में परतंत्र है। अतः जीव स्वतंत्रता से संसार के उपकार आदि को कर सकता है। उसका ऐसा करना परमेश्वर के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं है। उपासक की उपास्प से बराबरी का यहाँ कौन सा प्रश्न खड़ा हो गया। क्या किसी बात का कोई प्रसङ्ग न रहने देने में ही आप के तर्क की सार्थकता है।

७—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

शंका—प्रीति अनुकूल पुरुषों में होती है, यदि धर्म अनुसार दृष्टि है, तो धर्मविरोधी हठ करने वाले अभिमानी को शत्रु समझना चाहिए। फिर सबसे प्रीतिपूर्वक वर्तना चाहिए, यथा योग्य ठीक है। प्रीतिपूर्वक अशुद्ध है, इन्द्रियगण जो विषयों में आसक्त करें परम शत्रु हैं, इसलिए उसको शत्रु समझ कर विषयानन्द की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए। अपने आनन्द में आनन्द रहना चाहिए। यह बाह्य दृष्टि है जो सबसे प्रीतिपूर्वक या यथायोग्य वर्तने की शिक्षा है, जब तक सबसे प्रीति या यथा-योग्य अर्थात् न्यूनाधिक प्रीति को छोड़कर अन्तदृष्टि नहीं होती

तब तक कदाचित् कल्याण नहीं होता। विना इसके यह नियम वृथा है।

समाधान—यह शंका है अथवा असंबद्ध उपदेशालाप है। धर्मानुसार का अर्थ "सत्यासत्य का विचार करके" पाँचवें नियम में लिख दिया फिर भी उसे न समझकर व्यर्थ का व्याख्यान दे डाला; जिसको भी शत्रु समझना उसकी बुराइयों से शत्रुता करनी चाहिए—बुराई वाले मनुष्य से नहीं। यथायोग्य और धर्मानुसार क्रिया-विशेषण भी तो दिये गये हैं। प्रीतिपूर्वक वर्तना चाहिए परन्तु धर्मानुसार और यथायोग्य वर्तना चाहिए। नाक में मच्छर घुस जावे तो नाक को बचा कर मच्छर को निकालना चाहिए न कि मच्छर को मारने में सिर का ही भाड़ में डाल देना चाहिए। अतः इन्द्रियों को विषयों से हटाने में भी प्रीति पूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य ही वर्तना चाहिए। यदि यह बाह्य दृष्टि है तो अन्तर्दृष्टि (आप की अन्त दृष्टि) क्या है। अपने आनन्द में आनन्द रहना क्या है? इस पर भी तो प्रकाश डालना चाहिए था। भाषा तक का भी जब परिज्ञान नहीं हो तो व्यर्थ की युक्ति भिडाने का क्या तात्पर्य है?

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

शंका—विद्या यथार्थज्ञान को कहते हैं, और परमेश्वर पूर्ण सजातिविजातिपशुगतभेदरहित है, जगत् स्वप्न समान है, यदि जगत् में सत्यबुद्धि और परमेश्वर पूर्ण में भेदबुद्धि है सोई अविद्या है, सो इसका नाश करना चाहिए अर्थात् अभिमान हटाना चाहिए, क्या इसी का नाम विद्या की वृद्धि है जो वेदों के अर्थ मनमाने बना दिये।

समाधान—शंका क्या है बिना सिर पैर की मन घड़न्त है। स्वगत को पशुगत समझना क्या यही विद्या है। परमेश्वर के समान कोई नहीं उसका अंशरूप भी कोई नहीं है। परन्तु अन्य पदार्थ भी कोई नहीं है—यह मानने के लिए कोई हेतु देना चाहिए था। यदि हेतु नहीं तो फिर आप की कल्पना व्यर्थ है। जगत् को स्वप्नवत् मान कर भी वह मिथ्या नहीं ठहरता है। अविद्या का लक्षण भी आपका अनोखा है। जगत् सत्य है अतः उसमें सत्य बुद्ध करना और परमेश्वर पूर्ण है तथा उसके अतिरिक्त जीव और प्रकृति भी जगत् के मूल में विद्यमान है—यह मानना विद्या है। जैन धर्म को स्वीकार कर अन्य के व्यर्थ खण्डनमात्र के लिए नवीन वेदान्त का स्वीकार करना—यह विपरीतता क्या अविद्या नहीं है ?

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति० आदि।

शंका—जब तक भेद बुद्धि है तब तक यह बात भी कदाचित् नहीं हो सकती, यह बात केवल कहने मात्र प्रतीत होती है। ऐसा कोई पुरुष भेदवादी दृष्टि में नहीं आता कि जो अपनी अपेक्षा दूसरे की प्रशंसा को सहन करे, ईश्वर आदि की तो क्या गाथा, भेदबुद्धि के अभाव हुये ऐसा होगा।

समाधान—इसमें शंका क्या उठ रही है ?—यह भी तो स्पष्ट करना चाहिए। आप स्वयं १० व नियम को शंका में कहते हैं कि प्रति-प्रति को लेकर सर्व कहलाता है। तो प्रति प्रति का भेद तो सिद्ध ही हो रहा है। जब भेद सिद्ध है तब प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम० इत्यादि।

शंका—जो सर्वहितकारी नियम हैं सो प्रति प्रति को लेकर सर्व कहलाता है, आश्चर्य है कि पृथक् हितकारी नियम में स्वतंत्रता

और सर्वहितकारी नियमों में परतन्त्रा कैसे हो सकती है। स्वतन्त्रता और परतन्त्रता में परस्पर विरोध है, और सर्वहितकारी तथा पृथक् हितकारी एक ही बात है क्योंकि प्रति-प्रति को लेकर सर्व होते हैं। ऐसा कौन सा नियम है जो सर्वहितकारी हो और पृथक् हितकारी न हो ? (शेष व्यर्थ है।)

समाधान—नियम में 'प्रत्येक हितकारी नियम और "सर्वहितकारी नियम" शब्दों का प्रयोग है। पृथक् हितकारी नियम शंका करने वाले की अपनी कल्पना है। संसार में होता ही ऐसा है कि प्रत्येक मनुष्य अपने हितकारी नियमों में स्वतंत्र है और सामाजिक नियमों में परतंत्र है। एक आदमी को बैंगन बादी नहीं करता है वह नियम से खाता है परन्तु यदि इसी का सब को नियम बना दिया जावे तो जिस को बैंगन बादी करता उसके लिये क्या होगा ? अगर प्रत्येक हितकारी नियम सर्वहितकारी नियम है और सर्वहितकारी नियम प्रत्येक हितकारी नियम है तो फिर शरीर रक्षार्थ एक के भोजन कर लेने पर अन्यों का भी भोजन हो जावेगा—ऐसा माना जावे क्या ? प्रति-प्रति को मिल कर सर्व बनता है—तो क्या प्रति का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। फिर तो सर्व भी नहीं बन सकेगा। व्यक्ति और समाज को न समझने वाला ही ऐसी बातें कर सकता है।

यहाँ पर इन शंकाओं का समाधान किया गया; शंकाओं को देखने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शंकाकर्त्ता को साधारण भाषा का भी परिज्ञान नहीं है—सिद्धान्त और तर्क आदि की बात तो दूर रही।

'दयानन्द छलकपट दर्पण' के कर्त्ता की अज्ञता के अनेकों उदाहरण उसके ग्रन्थ में पाये जाते हैं परन्तु नीचे कुछ लिखे जाते

हैं जिनसे यह स्पष्ट सात हो जावेगा कि उसे तनिक भी ज्ञान नहीं है।

क—वह पृष्ठ ८७ पर लिखता है—पतंजलि मुनि ने एक पुस्तक बनाई है; जिसका नाम योगदर्शन है उसमें उन्होंने पाणिनि व्याकरण के अध्याय २ पाठ ४ सूत्र २३ पर टीका करते हुए कहा है कि राजा को ऐसी सभा नियुक्त करनी चाहिए जैसी चन्द्रगुप्त ने की है। यों हम देखते हैं कि पतंजलि ने अपने योगदर्शन में राजा चन्द्रगुप्त की चर्चा की है फिर व्यास जी ने इसी पुस्तक पर व्याख्या लिखी है। इसी से अत्यन्त प्रकट होता है कि व्यास जी बुद्ध और राजा चन्द्रगुप्त के पीछे हुये हैं।"

भला जिसने कभी योग दर्शन देखा होगा—ऐसी बात करेगा जैसी जैनी जियालाल जी कर रहे हैं। योगदर्शन में पाणिनि के व्याकरण २।४।२३ की व्याख्या होना और इससे योग दर्शन में चन्द्रगुप्त की चर्चा का होना—कितनी अलल जलूल और बिना सिर पैर की बातें हैं।

(ख) "जैसा वैशेषिक दर्शन में वस्तुओं के रूप, न्याय-दर्शन में उनके भेद, सांख्य में उनके तत्त्व और पतंजलि में उन पुस्तकों की शिक्षा समझने के विषय में लिखा है। जैमिनीय अर्थात् मीमांसा में विश्वास और विश्वासियों का वर्णन है और वेदान्त दर्शन में निस्तार और निस्तार प्राप्त करने का वर्णन है।" पृष्ठ ८८॥

भला ऐसा कोई समझदार व्यक्ति लिख सकेगा; जिसने दर्शन का क ख भी जाना होगा वह भी ऐसा लिखने को तैयार न होगा। परन्तु जैनी जी की बुद्धि धन्य है कि उन्होंने ऐसी बातें लिखीं, छपवायीं और लेखक भी बन गये। विशेष आश्चर्य की बात तो यह है कि इसे वे महर्षि दयानन्द के मत का

व्यवहार बतलाते हैं । परन्तु वे महर्षि के किसी भी ग्रन्थ में ऐसा लिखा दिखला नहीं सकते हैं । कितना झूठा व्यवहार है कि जो बात जिस व्यक्ति ने न लिखी हो और न कही हो उसको उसके नाम से लिखना । जैनी जी की पुस्तक में बहुधा इसी प्रकार के लेख पाये जाते हैं ।

(ग) इसी प्रकार पृष्ठ २४३ पर मनुस्मृति के श्लोक कह कर नीचे लिखे श्लोक दिये हैं—

कुलादि बीजं सर्वेषामाद्यो विमल बाहनः ।
चक्षुष्माश्च यशस्वी चाऽभिचन्द्रः प्रसेनजित् ॥८६॥
मरुदेवश्च नाभिश्च भरते कुलसत्तमाः ।
अष्टमे मरुदेव्यां च नाभेर्जातो युगेश्वरः ॥८७॥

मनुस्मृति में ये श्लोक कहीं भी नहीं पाये जाते हैं । श्लोक भी ऐसे हैं कि वे मनुस्मृति के नहीं मालूम पड़ते हैं । फिर भी इन्हें मनुस्मृति का श्लोक कहना कितनी बुरी बात है । यक्ता जी जो कि श्री जैनी जी की खोज को बहुत प्रामाणिक मानते हैं—इन श्लोकों को मनुस्मृति से निकाल कर दिखला ही देवें ।

(घ) जैनी जी ने पृष्ठ २४३ पर 'ॐ त्रैलोक्यप्रतिष्ठितान् चतुर्विंशति तीर्थंकरान् । ऋषभाद्यान् वर्द्धमानांस्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये ।।—इसे ऋग्वेद का मंत्र कहा है । परन्तु जन्म जन्मान्तर में भी इसे कोई ऋग्वेद में नहीं दिखा सकता है ।

(ङ) ॐ नमोऽर्हतो ऋषभाय ॐ ऋषभपवित्रं पुरहूतमध्वरं । यज्ञेषु नग्नं परममाह संस्तुतावारं शत्रुजयंतं शुरिद्रमाहुतिरिति स्वाहा ।। पुनः और मंत्र—

ॐ त्रातारमिन्द्र ऋषभं वदन्ति अमृतारमिन्द्र हवे सुगतं सुपाश्वे । इन्द्रहवे शक्रमजितं तद्वर्द्धमान पुरहूतिमद्रमाहुतिरिति स्वाहा ।।

पुनः नग्न की आहुति का मंत्र ।।

ॐ नग्नं सुधोरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनं उपैमिवीरम् । पुरुषमर्हंतमादित्यवर्णं तमसा पुरस्तात् स्वाहा ।।

पुनः ऋग्वेद में नग्न महिमा—

ॐ पवित्रं नग्नमुपस्पृसामहे येषां नग्नं येषां जातं येषां बोरं सुबोरम् ।।

इन उपर्युक्त अण्ड बण्ड वाक्यों को जैनी जी ने यजुर्वेद और ऋग्वेद का मंत्र कहा है । वे तथा अन्य कोई भी इन्हें इन वेदों में अनेकों जन्म लेकर भी नहीं दिखा सकते हैं । यह कितना मिथ्या व्यवहार है कि अनर्गल संस्कृत के वाक्य बना-कर उन्हें वेद मंत्र कह कर जन साधारण की आँख में धूल डाला जावे । ये मंत्र यक्ता जी के किन्हीं वेदों में स्यात् उन्हें मिल जावें ।

यहाँ पर छल कपट दर्पण के उद्धरण अमरौधा कानपुर संस्करण से दिये हैं ।

—:o:—